श्री जवाहर-किरणावली

नौवीं किरण—सम्यक्त्वपराक्रम

द्वितीय भाग

व्याख्याता
जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहरलालजी महाराज

सम्पादक—
पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक—
श्री जवाहरसाहित्य-समिति, भीनासर (बीकानेर)

निवेदन

पाठकों के कर कमलों में परम प्रतापी जैनाचार्य रत्न पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यानों में से नौवीं किरण पहुँचाते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है। आशा है पाठक इसे भी प्रेम और श्रद्धा के साथ अपनाएँगे और इसमें विभिन्न विषयों पर सरल भाषा में पूज्य श्री ने जिन जीवनोपयोगी विषयों पर सुन्दर प्रकाश डाला है, उन पर मनन तथा आचरण करके अपने जीवन को सफल बनाएँगे।

प्रस्तुत किरण सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन का दूसरा भाग है। प्रथम भाग में चार बोलों पर विवेचना प्रकाशित हुई थी। इसमें पाँचवें बोल से बीसवें बोल तक की विवेचना है। अगले भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होने की आशा है। कुल चार या पाँच भागों में यह अध्ययन समाप्त हो जाएगा।

पाठकों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि 'धर्म और धर्म नायक' (हिन्दी) भी प्रेस में दिया जा चुका है और 'राम-वनवास' का सम्पादन किया जा चुका है। यह दोनों पुस्तकें भी यथासंभव शीघ्र प्रकाशित की जाएँगी।

आजकल पुस्तकों की छपाई में बड़ी दिक्कतें पेश आ रही हैं। प्रेस वालों के ऊपर काम की भरमार है और कोई छपाई का काम लेने को सहसा तैयार नहीं होता। ऐसी दिक्कतों में भी हम अल्पकाल में ही पाठकों को अनेक किरणें भेंट कर सके हैं, यह संतोष की बात है। इसके लिए हम महावीर प्रेस ब्यावर के व्यवस्थापक श्री चिम्मनसिंहजी लोढ़ा के आभारी हैं।

निवेदक—

भीनासर (बीकानेर)
४-७-४७

चम्पालाल बांठिया
मन्त्री-श्री जवाहर साहित्य-समिति

—: विषयसूची :—

५

पाँचवां बोल !

आलोचना

संवेग, निर्वेद, धर्मश्रद्धा और गुरुसाधर्मिसेवा का विवेचन किया जा चुका है। अब पाँचवें बोल पर विचार किया जाता है। भगवान् से प्रश्न किया गया है —

मूल पाठ

प्रश्न–आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–आलोयणाए णं मायानियाणमिच्छादंसण-सल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवधणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं च जणयइ, उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई, इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ, पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—हे भगवन् ! आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—(गुरु के समक्ष) आलोचना करने से मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाले और अनन्त संसार की वृद्धि करने वाले माया,

मिथ्यात्व तथा निदान रूप तीन शल्यों को जीव हृदय से बाहर निकाल फैंकता है। इस कारण जीव का हृदय निष्कपट-सरल बन जाता है। आत्मा कपट रहित बन कर स्त्रीवेद और नपुंसक वेद का का बंध नहीं करता। अगर इस वेद का बंध हो चुका हो तो निर्जरा हो जाती है। अतएव आलोचना करने में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

व्याख्यान

आलोचना से होने वाले लाभों पर विचार करने से पहले इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि आलोचना का अधिकारी कौन है? और आलोचना का अर्थ क्या है?

विनयवान् ही आलोचना का पात्र है, क्योंकि विनम्र बने बिना आलोचना का बोधपाठ जीवन में उतारा नहीं जा सकता। विनयसमाधि आलोचना की भूमिका है। शास्त्र में विनय समाधि का वर्णन करते हुए कहा गया है —

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ, तं जहा अणुसासियंतो सुस्सूसइ, सम्मं च पडिवज्जइ, वयमाराहयइ, न य भवइ, अत्त संपग्गाहिए।

उल्लिखित सूत्र में आई हुई विनय समाधि की चार बातें जीवन में अपनाने से ही आलोचना की भूमिका तैयार होती है। विनयसमाधि की चार बातों में से पहली बात यह है कि गुरु का अनुशासन मानना चाहिए अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक गुरु की शिक्षा श्रवण करना चाहिए। दूसरी बात है गुरु की शिक्षा को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करना। तीसरी बात—शास्त्र और गुरु के वचनों की पूर्ण आराधना करना और चौथी बात—निर

भिमानी होना। जिस व्यक्ति में विनयसमाधि की यह चार बातें पाई जाती हैं, वही व्यक्ति आलोचना करने के योग्य बन सकता है। और जो विनयशील होता है, उसमें इन चार बातों का होना स्वाभाविक ही है।

अब यह देखना चाहिए कि आलोचना किसे कहते हैं? आलोचना का अर्थ करते हुए कहा गया है —

आ–सामस्त्येन स्वागताऽकरणीयस्य वागादियोग प्रयोग गुरो पुरो भावशुद्ध्या प्रकटनमालोचना।

'आलोचना' शब्द आ+लोचना इन दो शब्दों के संयोग से बना है। 'आ' उपसर्ग है और 'लोचना' 'लोच् दर्शने' धातु से बना है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ है पूर्ण रूप से, और लोचना का अर्थ है किसी कार्य को विचारपूर्वक प्रकट करना। इस प्रकार आलोचना शब्द का सामान्य अर्थ है–मोह के कारण जो अकरणीय कार्य हो गये हों, उनके लिए बिना किसी के दबाव के, भावशुद्धि की दृष्टि में रखकर गुरु के समक्ष मर्यादापूर्वक प्रकट कर देना अर्थात् मन, वचन और काय से जो अकृत्य कार्य किया हो, उसे अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देना।

'आलोचना' शब्द के विषय में शास्त्रों में बहुत विचार और ऊहापोह किया गया है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'आलोचना' इस पद में 'आ' उपसर्ग है और लोचना शब्द 'लोच् दर्शने' धातु से बना है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस कथन के अनुसार 'लोच् दर्शने' धातु के भी अनेक अर्थ हो सकते हैं। श्री आचारांगसूत्र में कहा है कि बहुत-से गृहस्थ, साधुओं को भ्रष्ट करना चाहते

इसलिए कहते हैं-'आपको ठंड सता रही है। लीजिए हम अग्नि जलाते हैं। तो हे साधु ! ऐसे समय पर तू आलोचना कर अर्थात् विचार कर। इस कथन के अनुसार आलोचना का एक अर्थ विचार करना भी होता है। इसी तरह अनेक स्थलों पर शास्त्रों में 'आलोचना' शब्द का विचार के अर्थ में प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणार्थ—किसी साधु से कहा-'अमुक वस्तु अभी तैयार नहीं है। अत आप अमुक समय पर पधारिये।' तो ऐसे अवसर पर शास्त्र कहता है कि 'हे साधु ! आलोचना कर अर्थात् विचार कर और गृहस्थ से कह दे कि साधु के लिए किसी प्रकार की तैयारी न करो। साधु के लिए ही तैयार की हुई वस्तु साधु को कल्पती नहीं है।

इस प्रकार आलोचना के अनेक अर्थ होते हैं। आलोचना के अनेक अर्थों के संबंध में जब बहुत दिनों तक विचार किया जाय तभी यह विषय भलीभाँति स्पष्ट हो सकता है। मगर अभी इतना समय नहीं है। अत संक्षेप में इतना ही कहता हूँ कि 'लोच् दर्शन' धातु से लोचना' शब्द बना है और उससे पहले 'आ' उपसर्ग लगा देने से 'आलोचना' शब्द निष्पन्न हो जाता है। मोह के कारण हुए अकृत्य कार्यों को, भाव शुद्धि के लिए मर्यादापूर्वक प्रकट करना आलोचना का अर्थ है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि आलोचना के अर्थ में 'अकृत्य' क्यों घुसेड़ दिया जाता है ? ऐसा क्यों नहीं कहा जाता कि जो कुछ भी किया गया है उस सब को प्रकट कर देना आलोचना है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ गिरने का भय होता है वहीं सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। पुलिस की व्यवस्था चोरों से रक्षा करने के लिए ही है। अस्पताल भी रोगियों

के रोग निवारण के लिए ही खोले जाते हैं और वैद्य के समक्ष रोग प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार जहाँ गिरने या बिगड़ जाने का भय रहता है वहीं सावधानी रखने के लिए कहा जाता है। इस कथनानुसार गुरु के समक्ष भी उन्हीं पापों को प्रकट किया जाता है जिन्हें करना उचित न हो किन्तु कर डाला हो। सुकृत्य तो सुकृत्य है ही। सुकृत्य, दुष्कृत्य नहीं बन सकता। अतएव सुकृत्य यदि गुरु के समक्ष प्रकट न किये जावें तो कोई हानि नहीं। मगर दुष्कृत्य प्रकट न करने से हानि अवश्यम्भावी है। इसी कारण अपने दुष्कृत्य गुरु के सामने प्रकाशित कर देना आवश्यक है।

संवत्सरी आ रही है। जैसे दीपावली के अवसर पर आप अपने घर का कूड़ा कचरा झाड़ बुहार कर बाहर फैंक देते हैं, उसी प्रकार संवत्सरी के शुभ अवसर पर आपको अपने हृदय का कचरा निकाल फैंकना चाहिए। भीतर जो पाप घुसा हो उसे बाहर निकाल कर पवित्र बन जाओ। यद्यपि संवत्सरी पर्व का मूल उपदेश आत्मा द्वारा हुए पापों को दूर कर देना है, किन्तु आजकल कुछ लोगों का यह पर्व विपरीत हो रहा है। जो पावन पर्व अन्तःकरण की मलीनता हटा कर शत्रु के साथ भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का मनोज्ञ संदेश देता है, उसी पर्व के लिए क्लेश होना सचमुच बड़े ही दुःख का विषय है। आप भलीभाँति ध्यान रक्खें कि इस पवित्र पर्व पर आपके निमित्त से तनिक भी क्लेश न होने पावे। आप अपनी आत्मा के रोगों को दूर करके पवित्र बनिये। इस पवित्र पर्व को दिन सच्चे हृदय से, भावपूर्ण आलोचना करने का दिवस है। अतएव इस पर्व का उपयोग जीवन को पवित्र बनाने के लिए ही करना उचित है।

यहाँ एक शंका की जा सकती है। वह यह है कि गुरु के समक्ष मर्यादापूर्वक अपने दुष्कृत प्रकट करना आलोचना है, परन्तु दुष्कृत प्रकट करने में किस प्रकार की मर्यादा रखनी चाहिए ? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि आलोचना करने में सरलता होनी चाहिए। अर्थात् जो बात, जिस रूप में हुई हो, वह उसी रूप में प्रकट कर देनी चाहिए। उसमें किसी प्रकार का अन्तर-न्यूनाधिकता और कपट नहीं होना चाहिए। वही आलोचना सच्ची और शुद्ध है, जो निष्कपट भाव से की गई हो। श्री निशीथसूत्र में कहा है—

अपलिउँचिय आलोएज्जा, मासिय पलिउँचिय आलोएमाणे निमासिय।

अर्थात्—जिस अपराध का दंड एक मास है उस अपराध की आलोचना अगर निष्कपट भाव से की जाय तो एक ही मास का दंड आता है, अगर आलोचना करने में कपट किया गया तो दो मास का दंड आता है। अर्थात् एक मास का दंड उस अपराध का और एक मास का दंड कपट का होता है। अतएव आलोचना करने में सरल और निष्कपट रहने की मर्यादा का पालन करना चाहिए।

संसार में विषमता दिखाई देती है उसका कारण कपट भी है। इस प्रकार कपट विषमता का कारण है, फिर भी लोगों ने उसे जीवन का एक आवश्यक अंग मान लिया है। लोगों में यह समझ फैल गई है कि कपट किये बिना जीवन व्यवहार चल ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, निष्कपट को भोला समझा जाता है और जो कपट करने की अनेक चालें जानता है, वह होशियार माना जाता

मगर शास्त्र कहता है—कपट महान् पाप है। जो दूसरे को ठगने का प्रयत्न करता है, वह अपनी आत्मा को ही ठगता है।

आलोचना किस प्रकार की होनी चाहिए? इस संबंध में एक प्राचीन ग्रंथ में कहा है—

'जयती कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ तं तह आलोएज्जा मायामया विप्पमुक्को।'

तुम नादान ना समझ को बालक कहते हो, हम सरल हृदय वाले को बालक कहते हैं। जिसे कपट का चेप नहीं लगा है, वह बालक अपने माता पिता के समक्ष प्रत्येक बात निष्कपट भाव से स्पष्ट कह देता है। बालक में किसी प्रकार का कपट नहीं होता और इस कारण वास्तविक बात प्रकट कर देने में उसे किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। सुना जाता है कि बालक की निष्कपट बातों द्वारा कितने ही अपराधों का पता चल सका है। खाचरौद (मालवा) की एक सत्य घटना इस प्रकार सुनी जाती है—खाचरौद में एक ओसवाल की कन्या को किसी माहेश्वरी भाई ने मार डाला थी। उस माहेश्वरी का ओसवाल के साथ घर जैसा संबंध था, लेकिन गहनों के गहन प्रलोभन में पड़कर उसने कन्या के प्राण ले लिये। कन्या को मार कर उसके गहने उतार लिये और धान्य के भौंयरे में शव छिपा दिया। लड़की के माँ बाप जब लड़की की खोज करने लगे तो वह माहेश्वरी भी आँसू बहाता हुआ खोज में शामिल हो गया। घर घर जैसा संबंध होने के कारण तथा उसकी चालाकी के कारण किसी को उस पर संदेह नहीं हुआ।

लड़की की खोज करने के लिए पुलिस ने भी बहुत माथा पच्ची की, मगर फल कुछ भी नहीं निकला। अन्त में पुलिस सुपरिं

टेंडेंट ने लड़की के पता लगाने का बीड़ा उठाया और उसी माहेश्वरी के घर अड्डा जमाया। दूसरे दिन माहेश्वरी की छोटी बहिन प्रसाद लेकर उधर से निकली। सुपरिटेंडेंट ने उसे अपने पास प्यार से बुलाया और पूछा—'बेटी! यह क्या ले जा रही हो?' उत्तर मिला—'मेरे भाई ने मनौती की थी कि लड़की के मारने में मेरा नाम न आया तो मैं देवी को प्रसाद चढ़ाऊँगा। यह मनौती पूरी हुई है, इसलिए मैं देवी को प्रसाद चढ़ाने जा रही हूँ।

माहेश्वरी की नन्हीं बहिन कपट-युक्ति नहीं जानती थी। अतएव उसने सब बात स्पष्ट कह दी। उसके कहने से ओसवाल का उस लड़की के खून का पता लग गया। माहेश्वरी पकड़ा गया, उस पर अभियोग चला और उसे यथोचित दंड भी मिला।

माहेश्वरी की छोटी बहिन ने सरलभाव से सब बात कह दी, यह अच्छा किया या बुरा किया? यह बात दूसरे से सम्बन्ध रखती है, इसलिए तुम कदाचित् लड़की के काय को भला कहोगे, मगर अपने विषय में देखो, तुम कोई बात छिपाते तो नहीं हो? किसी किस्म का कपट तो नहीं करते? कपट करके कदाचित् यहाँ कोई बात छिपा लोगे तो क्या परलोक में भी वह छिपी रह सकेगी? जब परलोक में वह बात प्रकट होती ही है तो फिर कपट करने का पाप क्यों करते हो? कपट करके पाप छिपाने से पाप अधिक बढ़ता है। अतएव पाप को प्रकट करके उसकी सरलतापूर्वक आलोचना कर डालना चाहिए। इसी में कल्याण है।

एक कवि ने कहा है—जैसे बालक निष्कपट भाव से अपने पिता के समक्ष सारी बातें स्पष्ट कह देता है, उसी प्रकार गुरु के समक्ष आलोचना करके सब बातें सरलतापूर्वक साफ साफ कह देनी

चाहिए। आलोचना करने में किसी प्रकार का क्लेश नहीं होना चाहिए। कपट करके दूसरे की आँखों में धूल झौंकी जा सकती है, परन्तु क्या परमात्मा को भी धोखा दिया जा सकता है? नहीं। परमात्मा को धोखा देने की असफल चेष्टा करना अपने आप को कष्ट में डालने के समान है। अतः आलोचना में सरलता और निष्कपटता रखना आवश्यक है। शास्त्र में भी कहा है—

माई मिच्छदिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।

अर्थात्—जहाँ कपट है वहाँ मिथ्यात्व है और जहाँ सरलता है वहाँ सम्यग्दर्शन है। लोग सम्यग्दर्शन चाहते हैं मगर सरलता से दूर रहना चाहते हैं। यह तो वही बात हुई कि 'बोया पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय।' एक भक्त ने कहा है—

मन की भली एक ही भाँति।
चाहत मुनि मन अगम सुकृत फल मनसा अघ न अघाति॥

अर्थात्—सभी का मन उत्तम फल की आशा रखता है। जिस उत्तम फल की कल्पना साधु भी नहीं कर सकते, वैसा उत्तम फल तो चाहिए मगर कार्य वैसा नहीं चाहिए। तीर्थङ्कर गोत्र का बंध होना, शास्त्र में बड़े से बड़ा फल माना गया है। अगर कोई कहे कि यह फल आपको मिलेगा तो क्या आपको प्रसन्नता नहीं होगी? मगर क्या यह फल बाजार में बिकता है जो खरीद कर लाया जा सके? मन तो पाप से बचता नहीं है, फिर इतना महान फल कैसे मिल सकता है? अतएव महान् फल की प्राप्ति के लिए हृदय में सरलता धारण करो और अपने अपराधों को गुरु के समक्ष सरलता पूर्वक प्रकट कर दो। इस प्रकार सरलता का व्यवहार करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

कहा जा सकता है कि सरलता किस प्रकार धारण करनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी भी बात में छल-कपट से काम नहीं लेना चाहिए। वरन् जो बात जिस रूप में हो, उसे उसी रूप म स्पष्ट कह देना चाहिए। कल्पना कीजिए, आपके पास दस रुपये हैं। कोई दूसरा आदमी आपसे रुपया माँगने आया। आपको अच्छी तरह मालूम है कि आपके पास दस रुपया हैं, फिर भी अगर आप माँगने वाले से कहते हैं—'अजी, मेरे पास रुपये होते तो मैं क्या आपको नाहीं करता ?' इस प्रकार दुर्व्यवहार करना कपट है, सरलता नहीं है। कपट करना अपनी आत्मा का अपमान करने के समान है। अगर आप माँगने वाले को रुपया नहीं देना चाहते तो स्पष्ट कह देना चाहिए कि मेरे पास रुपया है, मगर मैं नहीं देना चाहता। ऐसा कहने म कपट भी नहीं और आत्मा का अपमान भी नहीं है।

कहा जा सकता है कि इस प्रकार के स्पष्ट व्यवहार स तो लोक-व्यवहार का लोप होता है। इसके उत्तर में ज्ञानी जनों का कथन है कि कपटपूर्ण व्यवहार स धर्म और व्यवहार दोनों का लोप होता है। माँगने वाले से ... स्पष्ट कह दिया होता कि मैं रुपया नहीं देना ... अच्छा होता। मगर कपट करने से ... उत्तर सुन कर माँगने वाले ... उन्होंने रुपया नहीं दिया ... इस प्रकार तुम्हारे ...

जाता है। इस क

की साक्षी से, गुरु के समक्ष प्रकट करना चाहिए। एक कवि ने कहा है—

> किं बाललीलाकलितो न बालः,
> पित्रो पुरो जल्पति निर्विकल्पः ।
> तथा यथार्थं कथयामि नाथ !
> निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे ॥

अर्थात्—हे नाथ ! तुम्हारे सामने वास्तविक बात प्रकट करने में मुझे सकोच ही क्या हो सकता है ? अथवा ऐसा करने में मेरी विशेषता ही क्या है ? क्या बालक अपने माता पिता के सामने सब बात खोलकर नहीं कह देता ? पिता भले ही वह बातें जानता हो, फिर भी बालक तो सब बातें कह ही देता है। बालक की भाँति, हे नाथ ! अगर मैं भी सब बातें तुम्हारे समक्ष स्पष्ट कह दूँ तो इसमें सकोच की क्या बात है ? और विशेषता भी क्या है ?

तुम बालक की भाँति निष्कपट और सरल बनो। हृदय में जो शल्य हो उन्हें निकाल फैंको। विचार करो कि अगर मैं परमात्मा के सामने भी सरल न बना तो फिर और कहाँ सरल बनूँगा ? पाप छिपाने से छिप तो सकते नहीं हैं, फिर उन्हें छिपाने का प्रयत्न करके अधिकतर दंड का पात्र क्यों बनना चाहिए ? कहावत है—'उत्तम का दंड साधुसमागम, मध्यम का दंड राज्य और अधम का दंड यमराज।' अतः यह विचार करो कि हम अपने पाप प्रकट करके उत्तम दंड ही क्यों न भोगें ? जिन पापों के कारण अभी साधारण दंड भोगने दुःख होता है, उन्हीं पापों को छिपाने के कारण आगे चलकर घोर दंड सहन करना पड़ेगा। उस समय कितना दुःख

कहा जा सकता है कि सरलता किस प्रकार धारण करनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी भी बात में छल कपट से काम नहीं लेना चाहिए। वरन् जो बात जिस रूप में हो, उसे उसी रूप म स्पष्ट कह देना चाहिए। कल्पना कीजिए, आपके पास दस रुपये हैं। कोई दूसरा आदमी आपसे रुपया माँगने आया। आपको अच्छी तरह मालूम है कि आपके पास दस रुपया हैं, फिर भी अगर आप माँगने वाले से कहते हैं—'भाई, मेरे पास रुपये होते तो मैं क्या आपको नाहीं करता ?' इस प्रकार व्यवहार करना कपट है, सरलता नहीं है। कपट करना अपनी आत्मा का अपमान करने के समान है। अगर आप माँगने वाले को रुपया नहीं देना चाहते तो स्पष्ट कह देना चाहिए कि मेरे पास रुपया है, मगर मैं नहीं देना चाहता। ऐसा कहने में कपट भी नहीं और आत्मा का अपमान भी नहीं है।

कहा जा सकता है कि इस प्रकार के स्पष्ट व्यवहार से तो लोक व्यवहार का लोप होता है। इसका उत्तर में ज्ञानी जनों का कथन है कि कपटपूर्ण व्यवहार से धर्म और व्यवहार दोनों का लोप होता है। माँगने वाले से आपने स्पष्ट कह दिया होता कि मैं रुपया नहीं देना चाहता तो आपका व्यवहार उलटा अच्छा होता। मगर कपट करने से व्यवहार अच्छा नहीं रह सकता। आपका उत्तर सुन कर माँगने वाला मनुष्य तुम्हारे विषय में यह सोचता कि इन्होंने रुपया नहीं दिया, मगर बात सच्ची कह दी, झूठ नहीं बोला। इस प्रकार तुम्हारे सत्य व्यवहार से तुम्हारा विश्वास भी जमेगा।

आजकल ग्रामों की अपेक्षा नगरों में कपट अधिक देखा जाता है। इस कपट को हटाकर सरलतापूर्वक अपने पाप परमात्मा

की साक्षी में, गुरु के समक्ष प्रकट करना चाहिए। एक कवि ने कहा है—

> कि बाललीलाकलितो न बालः,
> पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः।
> तथा यथार्थं कथयामि नाथ!
> निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे ॥

अर्थात्—हे नाथ! तुम्हारे सामने वास्तविक बात प्रकट करने में मुझे संकोच हो क्या हो सकता है? अथवा ऐसा करने में मेरी विशेषता ही क्या है? क्या बालक अपने माता पिता के सामने सब बातें खोलकर नहीं कह देता? पिता भले ही वह बातें जानता हो, फिर भी बालक तो सब बातें कह ही देता है। बालक की भाँति, हे नाथ! अगर मैं भी सब बातें तुम्हारे समक्ष स्पष्ट कह दूं तो इसमें संकोच की क्या बात है? और विशेषता भी क्या है?

तुम बालक की भाँति निष्कपट और सरल बनो। हृदय में जो शल्य हो उन्हें निकाल फैंको। विचार करो कि अगर मैं परमात्मा के सामने भी सरल न बना तो फिर और कहाँ सरल बनूंगा? पाप छिपाने से छिप तो सकते नहीं हैं, फिर उन्हें छिपाने का प्रयत्न करके अधिकतर दंड का पात्र क्यों बनना चाहिए? कहावत है—'उत्तम का दंड साधुसमागम, मध्यम का दंड राज्य और अधम का दंड यमराज।' अतः यह विचार करो कि हम अपने पाप प्रकट करके उत्तम दंड ही क्यों न भोगें? जिन पापों के कारण आज साधारण दंड भोगना उचित होता है, उन्हीं पापों को छिपाने के कारण आगे चलकर घोर दंड सहन करना पड़ता। उस समय कितना दुःख

भुगतना पड़ेगा ? अतएव घोर दुःख से बचने के लिए अपने पाप यहीं प्रकट करके आलोचना कर लेना चाहिए।

कवि कहता है—'प्रभो! मुझ में बालक के समान सरलता होनी चाहिए और तुम्हारे समक्ष कोई भी बात प्रकट करने में मुझे संकोच नहीं होना चाहिए।' कवि ने इस प्रकार कहकर निष्कपट सरल बनने का, अपना आन्तरिक भाव व्यक्त किया है।

लोगों के लिए सरलता सरल और कपट कठिन है। मगर उन्होंने इससे विपरीत मान लिया है। वह समझते हैं—सरलता रखना कठिन है और कपट करना सरल है। इस झूठी मान्यता कारण ही लोग संसार के चक्र में घूम रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल कोई महाज्ञानी महापुरुष नहीं हैं, इस दशा में हमारा निस्तार कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि तुम्हारे भीतर शक्ति होने पर ही महाज्ञानी तुम्हारा निस्तार कर सकते हैं। तो फिर तुम यह क्यों नहीं देखते कि तुममें शक्ति है या नहीं ? तुम्हारी आत्मा सरल
यह बात पहले देखना चाहिए। अगर तुम्हारी
होगी तो तुम अपना कल्याण आप ही कर
कपटयुक्त हुआ तो फिर कोई भी तुम्हारा क
क्योंकि सरलता के बिना आत्मकल्
कल्याण के द्वार में प्रवेश करने क

शास्त्र में आलोचना के
किया गया है। श्री महानिशीथ सूत्र
अत्यन्त सरलतापूर्वक वर्णन किया गया
यह है कि नाम आलोचना, स्थापना आ

और भाव आलोचना—इस प्रकार आलोचना के चार भेद हैं। नाम मात्र की आलोचना अर्थात् आलोचना का सिर्फ नाम ले लेना नाम आलोचना है। किसी जगह आलोचना की स्थापना करना या पुस्तक आदि में आलोचना लिखना स्थापना आलोचना है। ऊपर ऊपर से आलोचना करना और हृदय से आलोचना न करना द्रव्य आलोचना है। अन्त:करण से, भावपूर्वक आलोचना करना भाव आलोचना कहलाती है।

अभी रामजी भाई को ब्रह्मचर्य स्वीकार करने के उपलक्ष्य में बारह व्रतों की जो आलोचना कराई गई है, वह केवल उन्हीं को कराई गई है या तुम्हें भी ? वह स्थूल हिंसा नहीं करते और न स्थूल असत्य भाषण करते हैं। क्या तुम ऐसा करते हो ? अगर ऐसा नहीं करते तो यह आलोचना तुम्हारे लिए भी है। मगर एक बात सदैव ध्यान में रखना चाहिए। वह यह कि आलोचना केवल द्रव्य आलोचना ही न रह जाय।

यहाँ शास्त्र में भाव आलोचना का ही वर्णन है। भाव आलोचना का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है —

'आलोएइ, निंदइ, गरिहइ, पडिक्कमइ, आहारियं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ, आराहिए भवइ।'

इस प्रकार की आलोचना ही भाव आलोचना है। संवत्सरी पर्व जीवन को शुद्ध बनाने का पर्व है। यह पर्व सन्निकट आ रहा है। इस पवित्र पर्व के दिन तो ऐसी भाव आलोचना करना ही चाहिए। प्रतिक्रमण करते समय 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव है, इस प्रकार का सूत्रपाठ बोलते हो, मगर यह भी देखना चाहिए कि यह पाठ जीवन में कितना

रहता है ? अगर यह मैत्रीभावना केवल जिह्वा से बोल दी और जीवनव्यवहार में अमल में न आई तो यही कहना होगा कि तुम अभी तक मात्र आलोचना तक नहीं पहुँच सके हो। 'मित्ती मे सव्व भूएसु' इस सूत्रपाठ को मानने वाला व्यक्ति किसी को अपना शत्रु तो मान ही नहीं सकता और न किसी के साथ क्लेश ही कर सकता है। प्राणीमात्र के प्रति उसकी तो मैत्रीभावना ही होगी।

समस्त प्राणियों को मित्र के समान समझना चाहिए, यह कथन सुनकर कदाचित् कोई प्रश्न करे कि सब का मित्र मानने का अर्थ क्या यह है कि जिनसे हमें रुपया लेना है, उन्हें यों ही छोड़ दिया जाय ? ऋण वसूल न किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मित्र के साथ क्या लेन देन नहीं किया जाता ? अपना लेना वसूल करने की मनाई नहीं है, मगर अन्याय करने का निषेध किया गया है। हृदय में किसी के प्रति वैरभाव नहीं रखना चाहिए। हम साधुओं को तो सबके प्रति मैत्रीभाव रखना ही चाहिए, चाहे कोई हमारे प्राण ही क्यों न ले ले। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते अंगार रक्खे गये थे, फिर भी सोमल ब्राह्मण को उन्होंने अपना मित्र ही माना था। साधुओं को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिए कि वे किसके शिष्य हैं और हमें हृदय में किस प्रकार का मैत्रीभाव धारण करना चाहिए।

आज जैनधर्म का अनुयायी कोई राजा नहीं रहा। तुम्हीं उसके अनुयायी हो और इसी कारण पोल चल रही है। तुम धर्म का विचार न करो, असत्य बात पकड़ बैठो या धर्म में अधिक भ्रम उत्पन्न करो, तो इसके लिए तुमसे अधिक क्या कहा जाय ? तुमसे ज्यादा कुछ नहीं बन पड़ता, तो कम से कम इतना तो अवश्य करो कि संसारव्यवहार के साथ धर्म का एकमेक न करो। अगर

इतना भी करोगे तो आप सब के जो टुकड़े टुकड़े हो रहे हैं, वह न होंगे। धर्म की रक्षा करने से संघ में एकता और शान्ति की स्थापना अवश्य होगी।

कहा जा सकता है कि आप यहाँ अधिक क्यों रहने वाले हैं? ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि अगर मैं शरीर से नहीं तो धर्म से तो रहूँगा ही। तुम्हारे धर्मभाव के कारण ही मैं यहाँ आया हूँ और इसलिए तुम मुझे लाये हो। तुम जिस धर्म का पालन करते हो वह मुझमें न होता अथवा जिस धर्म का पालन मैं करता हूँ वह तुममें न होता तो तुम मुझे यहाँ लाते ही क्यों? और मैं भी किसलिए आता? यह धर्म या यश का शरीर तो रहता ही है। इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि धर्म के नाम पर रगड़े झगड़े मत करो। विचार करो कि हम गजसुकुमार मुनि के शिष्य हैं। उन्होंने तो मस्तक पर धधकते अंगार रखने वाले को भी मित्र समझा था तो क्या हम अपने सहधर्मी को भी मित्र नहीं समझ सकते?

भावपूर्वक की जाने वाली आलोचना ही सच्ची आलोचना है। कर्म के उदय से अपराध तो हो जाता है, मगर उस अपराध की निन्दा करनी चाहिए और सोचना चाहिए कि केसर की क्यारी में धूल कहाँ से पड़ गई? जैसे केसर में धूल पड़ जाना सह्य नहीं होता उसी प्रकार व्रत में दोष लगना भी सह्य नहीं होना चाहिए और अपने अपराध की निन्दा करना चाहिए। अपने दोषों की निन्दा करते करते जो आलोचना की जाती है, वही सच्ची आलोचना है।

आत्मनिन्दा भी द्रव्य से नहीं वरन् भाव से करनी चाहिए और आत्मनिन्दा के साथ गर्हा भी करनी चाहिए। अर्थात् अपने किये अकृत्य के प्रति घृणा प्रकट करना चाहिए और अकृत्य के

शोधन के लिए गुरु द्वारा दिए हुए प्रायश्चित्त को स्वीकार करना चाहिए। भगवान् ने कहा है कि इस प्रकार विधिपूर्वक आलोचना करने वाला जघन्य तीन भवों में और उत्कृष्ट पन्द्रह भवों में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री भगवती सूत्र में कहा है—आलोचना का आराधक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। उत्कृष्ट आराधक तीन भव में मोक्ष जाता ही है। आप भी इस प्रकार की आलोचना करके आत्मा का कल्याण करो। किसी भी पाप को दबाओ या छिपाओ मत, उसे सरलतापूर्वक प्रकट कर दो। आलोचना करने में सत्य का ही व्यवहार करो। परमात्मा का सच्चा भक्त असत्य नहीं बोलेगा और न दुराचार ही सेवन करेगा। असत्यभाषी और दुराचारी परमात्मा का सच्चा भक्त हो ही नहीं सकता। परमात्मा की भक्ति करना और सत्य एवं शील का सेवन करना एक ही बात है। सत्य में महान् शक्ति है। सत्य के प्रभाव से असिपिञ्जर में से भी मनुष्य अक्षुण्ण बच निकल सकता है। इस प्रकार के निष्कलंक सत्य की आराधना करने में प्राण भले ही चले जाएँ, मगर सत्य का परित्याग नहीं करूँगा, ऐसी दृढ़ भावना रहनी चाहिए। फिर इसी दृढ़ता से सत्य और शील का पालन किया जाय तो कल्याण आपकी मुट्ठी में ही है।

सत्य, शील और परमात्मा की प्रार्थना के विषय में अन्यत्र विवेचन किया गया है। अब यह विचार करना है कि इसका फल कैसा होता है और वह किसे प्राप्त होता है?

तीखी तलवार का फूल के समान कोमल हो जाना, विष का अमृत हो जाना और जान माल को हानि पहुँचाने वाले शत्रु का अपने आप झुक जाना, यह सब फल मिलता हो तो किसे खराब

लगेगा ? ऐसे फल की आशा तो सभी करते हैं, मगर अपने कामों की तरफ कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। प्राचीन काल में मुनियों की गोदी में सिंह और साँप भी लौटते थे, ऐसा सुना जाता है। भगवान् की धर्मपरिषद् में, भगवान् का उपदेश सुनने के लिए सिंह और बकरी एक साथ बैठते थे। किसी को किसी से भय नहीं था। अगर आज सिंह आवे तो आप लोग उसके आने से पहले ही भाग जाएँगे।

इस प्रकार की कायरता रखते हुए भी आप ऐसा फल चाहते हैं, जो मुनियों की भी कल्पना में न आया हो। कार्य न करना और फल चाहना तो जादू के फल चाहने के समान है। अगर आप जादुई फल न चाहते हों तो आपको सत्कार्य करना चाहिए। सत्कार्य करने के साथ भावना ऐसी रखनी चाहिए कि फल मिले या न मिले मुझे कर्त्तव्य करना ही चाहिए। मगर जैसे चोर धन कमाये बिना ही धन चाहता है, उसी प्रकार लोग कार्य किये बिना ही फल चाहते हैं। क्या आपको चोर की नीति पसन्द है ? अगर पसन्द नहीं है तो कार्य किये बिना फल की आशा करने की नीति क्या अच्छी है ? कार्य करोगे तो उसका फल मिलेगा ही। अतएव फल की आशा न रखते हुए काम करते रहना चाहिए।

जब तक वस्तु का गुण न जान लिया जाय तब तक उसके प्रति रुचि उत्पन्न नहीं होती। जो वस्तु पहले साधारण मालूम होती है, गुण का ज्ञान होने पर वही महान् मालूम होने लगती है। पैत्रिकसम्पत्ति में मिले हुए हीरे की कीमत जब तक जान न ली जाय तब तक वह साधारण जान पड़ता है। मगर जब जौहरी उसकी कीमत आँकता है तब वही हीरा कितना कीमती मालूम होता है। इसी प्रकार ऊपर ऊपर से आलोचना का नाम तो लिया जाता है

मगर आलोचना से प्राप्त होने वाले गुण की बात तो भगवान् महावीर जैसे ज्ञाननिधान से ही जानी जा सकती है। आलोचना के विषय में भगवान् महावीर का कथन सुनने के बाद जब आलोचना आपको महान् प्रतीत होने लगे, तभी समझना चाहिए कि 'हमने भगवान् की वाणी सुनी है।'

आलोचना का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है—'मोक्ष मार्ग में बाधा डालने वाली और अनन्त संसार की वृद्धि करने वाली माया का आलोचना द्वारा नाश होता है।'

भगवान् ने भाव आलोचना का यह फल बतलाया है। आलोचना तो तुम भी करते होगे, मगर पहले यह देखलो कि तुम्हारे हृदय में कपट निकला है या नहीं? अगर तुमने कपट का त्याग करके आलोचना की है तो वह सच्ची आलोचना है। अन्यथा दुनिया को ठगने के लिए और 'हमने आलोचना की है' यह कहने के लिए की गई आलोचना खोटी आलोचना है। माया कपट का लेश भी जिसमें न हो, वही शुद्ध आलोचना है। जो माया मोक्षमार्ग में बाधा उपस्थित करती है और अनन्त संसार बढ़ाती है, उस माया का त्याग करने के लिए ही आलोचना करना वास्तविक आलोचना है।

मान लीजिए, आपको जंगल के निकट मार्ग से होकर कहीं जाना है। आपको भय है कि अमुक व्यक्ति हमारे मार्ग में बाधा खड़ी करेगा। ऐसी अवस्था में आपको एक साथी मिल गया, जो बाधा खड़ी करने वाले को भगा सकता है। अब आप उस साथी की सहायता लेंगे या नहीं? इसी प्रकार माया मोक्षमार्ग में विघ्न खड़ा करती है। इसे हटाने के लिए आलोचना की सहायता लेनी चाहिए।

माया के अनेक रूप हैं। फिर भी संक्षेप में उसके चार भेद किये गये हैं —

(१) अनन्तानुबंधी माया (२) अप्रत्याख्यानी माया (३) प्रत्याख्यानी माया (४) सज्वलन माया। अन्य धर्मों के शास्त्रों में भी माया का विस्तृत वर्णन किया गया है और वहाँ अखिल ब्रह्माण्ड को माया और ब्रह्म से बना हुआ बतलाया है। परन्तु जैनशास्त्र प्रकृति को माया कहता है। एक विशेष प्रकार की प्रकृति माया है।

हमारे भीतर किस प्रकार की माया है, यह बात तो अपने आप ही जानी जा सकती है। बहुत से लोग अपनी बुराइयाँ छिपा कर उलटे अपनी प्रशंसा करते हैं, जिससे दूसरे लोग उन्हें अच्छा समझें। मगर ऐसा करना गूढ़ माया है। लोगों को ठगने वाली माया से आत्मा का कल्याण कदापि नहीं हो सकता।

माया की अधिकता ग्रामों की अपेक्षा नगरों में खूब देखी जाती है। माया की दृष्टि से एक ग्रामीण अच्छा कहा जाय या एक मशहूर वकील बैरिस्टर? ग्रामीण किसान ज्वार को ज्वार ही कहता है, ज्वार को बाजरा नहीं कहता। मगर वकीलों और बैरिस्टरों का क्या पूछना है? वह ज्वार को भी बाजरा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वास्तविकता कुछ और होती है और वकील लोग सिद्ध करते हैं कुछ और ही। इस प्रकार उलटे को सीधा और सीधे को उलटा, करके वह अपनी कमाई करते हैं और मौज उड़ाते हैं। मगर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार की माया मोक्षमार्ग में विघ्न बाधा खड़ी करती है।

पर्युषणपर्व नजदीक आ रहा है। अन्तत इस पर्व में तो माया का त्याग करना ही चाहिए। इस पर्व में तुम्हें सादगी धारण

करनी चाहिए या आडम्बर बढ़ाना चाहिए ? तुम बहुमूल्य व
धारण करो और तुम्हारे भाइयों को भोजन भी न मिले, यह कित
अनुचित है ? अतएव सादगी धारण करो। रामचन्द्रजी प्रकट में
पिता की आज्ञा पालन करने के हेतु वन में गये थे, पर वास्तव
रावण द्वारा होने वाले पापों और अन्यायों को नष्ट करने के लि
गये थे। वह पाप का विनाश करने के लिए सादा बन कर गये थे
उन्होंने छाल के वस्त्र धारण किये थे। क्या छाल के वस्त्र, स्वादी के
वस्त्रों की अपेक्षा अच्छे थे ? यदि कहो—नहीं, तो रामचन्द्र ने किस
कारण उन्हें धारण किया था ? क्या वह मूर्ख थे ? रामचन्द्रजी मूर्ख
नहीं थे। उन्हें पापों का नाश करना था और सादगी धारण किये
बिना पाप नष्ट नहीं हो सकते थे। इसी कारण उन्होंने वल्कलवस्त्र
पहने थे। तुम और कुछ नहीं कर सकते तो इस पवित्र पर्व में पापों
का नाश करने के लिए कम से कम सादगी तो धारण करो।

माया अत्यन्त निकृष्ट है। माया पापमयी राक्षसी है।
अगर तुम इसे जीतना चाहते हो तो सादगी अपनाओ। सादगी
अपनाने से तुम्हारा आत्मा भी पवित्र बनेगा और दूसरों का भी
कल्याण होगा।

जो माया का गुलाम नहीं है, वह पापात्मा के सामने हृदय
खोलकर अपने अपराध पेश कर देता है। वह सच्ची आलोचना
करता है। बहिनें घर झाड़ते समय घर की वस्तुएँ बाहर नहीं फैंक
देतीं, सिर्फ कचरा फैंकती हैं। इसी प्रकार पर्युषणपर्व में हृदय के
कचरे—माया को बाहर निकालकर फेंक दो। बहुतेरे लोग हृदय के
मैल—माया को तो सभाल रखते हैं और सद्गुणरूपी वस्तुएँ फैंक
देते हैं। यह पद्धति खोटी है। इसे त्यागो। जान-बूझकर कोई घर में
कचरा नहीं लाता, प्राकृतिक रूप से कचरा घर में आ जाता है।

महीना-दो महीना निरन्तर बन्द रहने वाले मकान में भी कचरा घुस जाता है। इसी प्रकार मानवीय प्रकृति के कारण भले ही हृदय में माया आ गई हो, मगर उसे सम्भाल कर मत रक्खो—निकाल बाहर करो। जब हृदय में से माया निकाल फैंकने की तमन्ना पैदा होगी तब थोड़ीसी माया भी अधिक मालूम होगी, ठीक उसी प्रकार जैसे कचरा फैंकने की तमन्ना रखने वाली स्त्री को थोड़ा भी कचरा अधिक जान पड़ता है। इसी भाव को प्रकट करते हुए एक भक्त कहता है —

> माधव ! मो सम मन्द न कोउ।
> यद्यपि मीन पतंग हीनमति, मोहिं न पूजै ओऊ।
> महामोह—सरिता अपार में, सन्तत फिरत बह्यो।
> श्रीगुरु चरण शरण नौका तजि, पुनि पुनि फैन गह्यो॥

'मा—लक्ष्मीं, धारयति—पोषयतीति माधवः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भक्त अनन्त ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी लक्ष्मी के पति माधव को संबोधित करके कहता है—हे माधव ! मेरे बराबर मंद और कौन है ? यद्यपि मछली और पतंग हीनमति कहलाते हैं, लेकिन मैंने तो उनसे भी बाजी मार ली है। मैं उनसे भी अधिक बुद्धिहीन हूँ। इस महामोह की नदी में भटकते-भटकते अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है, फिर भी मैं इसका किनारा नहीं पा सका। महापुरुषों ने मुझसे नदी के किनारे पर पहुँचाने के लिए कहा—'तू इस नौका पर सवार हो जा तो सरलता से पार हो जायगा।' लेकिन मैं नौका पर तो आरूढ़ नहीं हुआ, पानी के फैन पकड़ने लगा और उनका सहारा खोजने लगा। मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि यह नौका है और यह फैन है। फिर भी मैंने नौका का आश्रय न लेकर फेन का सहारा चाहा ! बताइए, मुझ जैसा मूर्ख इस संसार में और कौन होगा ?'

जो सच्चा भक्त होगा और जो अपने हृदय में माया को स्थान न देना चाहता होगा, वही इस प्रकार की बात कह सकता है। दूसरे में इतनी हिम्मत कहाँ? जो पहले से ही अपने को निष्पाप दूध का धुला समझे बैठा है और महाज्ञानी मानता है उस पंडितमन्य के मुख से इस प्रकार की बात निकल ही नहीं सकती। भक्त जन अपना आन्तरिक भाव प्रकट करते हुए यहाँ तक कहते हैं —

अवगुण ढांकन काज करूँ जिनमत क्रिया।
तजूँ न अवगुण-चाल, अनादिनी जे प्रिया॥

अर्थात्—हे प्रभो! मैं अपने अवगुणों को ढँकने के लिए तो जिनमत की क्रिया करता हूँ, मगर अवगुणों का त्याग करने के लिए श्रम नहीं करता, जो अवगुण अनादि से मुझे प्रिय हैं।

हृदय में जब इस प्रकार का उन्नतभाव व्यक्त होता है और सचाई के साथ गुरु के समक्ष अपने पापों की आलोचना की जाती है तो माया का विनाश अवश्य होता है। अगर पाप को नष्ट करने की भावना का उद्भव हो तो—

पाप पराल को पुँज बन्यो अति मानहु मेरु आकारो।
सो तुम नाम हुतासन सेती सहज ही प्रज्वलत सारो॥

अर्थात्—सुमेरु जितना बड़ा पापों का पुंज भी परमात्मा का शरण स्वीकार करने से नष्ट हो जाता है। कपट करके दूसरे को मायाजाल में फँसाया जा सकता है, लोगों की ऐसी सामान्य मान्यता है, मगर उन्हें मालूम नहीं है कि ऐसा करके वे स्वयं ही मायाजाल में फँस रहे हैं।

भगवान से आलोचना के फल के विषय में प्रश्न किया गया है। यह प्रश्न पूछने के बहाने वास्तव में भाव आलोचना की

व्याख्या पूछी गई है। जिस आलोचना से माया छूटती है, वही वास्तव में भाव आलोचना है।

अनन्त संसार की वृद्धि करने वाली माया ही है, और कोई नहीं। कतिपय लोग कहते हैं कि ईश्वर हमें दुःख देता है अथवा काल दुःख देता है। परन्तु ज्ञानी जन कहते हैं कि वास्तव में दुःख देने वाली माया ही है। अगर हमारे भीतर माया का वास न हो तो उस अवस्था में हमें कोई किसी प्रकार का दुःख नहीं दे सकता। आलोचना द्वारा माया का विमोचन होता है और माया के विमोचन के पश्चात् किसी भी प्रकार का दुःख नहीं रह सकता।

माया, धर्मक्रिया का भी निदान करा देती है। इस लोक या परलोक के लिए अपनी धर्मक्रिया बेच देना निदान कहलाता है। माया एहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिए निदान कराती है। किसी भी देखी अनदेखी वस्तु के लिए अपनी धर्मक्रिया बेच देना निदान है और निदान आत्मा के लिए शल्य के समान है।

कुछ लोग ऐसी आशंका करते हैं कि भारतवर्ष धार्मिकक्षेत्र होते हुए भी दुःखी क्यों है? ऐसा कहने वालों को यही उत्तर दिया जा सकता है कि दूसरों के साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही भारतवासी दुःखी हो रहे हैं। धर्मक्रिया करने के साथ ही साथ लोग मायापाश रखते हैं, यही उनके दुःख का कारण है। प्राचीन काल के पुरुष इन्द्रपदवी के लिए भी धर्मक्रिया का विक्रय नहीं करते थे और न अपने धर्म का परित्याग ही करते थे। मगर आज क्या स्थिति है? आज दो-चार पैसों के लिए भी धर्म को तिलांजलि दे दी जाती है। ऐसी दशा में भारत दुःखी न हो तो क्या हो? सुख की अभिलाषा है तो मायानिदान का त्याग करो। जब तक मायानिदान का अन्त

वीतराग भगवान् तो उपदेश देते हैं। कोई माने तो ठीक है। भगवान् किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालते।

भगवान ने उन साधुओं और साध्वियों को अपने पास बुलाया। उन सब के आने पर भगवान् ने सहसा यह नहीं कहा कि तुमने ऐसा निदान क्यों किया है? वरन् भगवान् ने उन्हें निदान के नौ भेद और उनसे होने वाली हानियाँ समझाई। भगवान् का उपदेश सुनकर वह सब समझ गये कि निदान करने से हमारी उलटी हानि ही हुई है। हमने तुच्छ चीज के लिए धर्मक्रिया का विक्रय कर डाला है, मगर इस निदान के फलस्वरूप वह चीज मिलेगी ही, यह कौन कह सकता है?

उन साधुओं और साध्वियों ने मस्तक झुकाकर भगवान् से कहा—'प्रभो! हमारा उद्धार करो।'

भगवान् बोले—हे श्रमणो! और श्रमणियो! तुम किसी प्रकार का भय मत करो। आलोचना, निन्दा और गर्हा करके की हुई भूल का प्रायश्चित्त करो तो तुम शुद्ध हो जाओगे।'

वह साधु और साध्वियाँ भगवान् के आदेशानुसार आलोचना, निन्दा और गर्हा करके पवित्र हुए।

वह साधु और साध्वियाँ तो भगवान् की वाणी सुनकर पवित्र हुए थे। आज भी सूत्र के रूप में भगवान् विद्यमान हैं या नहीं? उनकी वाणी तो आज भी विद्यमान है। अतएव भगवान् की वाणी सुनकर तुम पवित्र बनो और अपराध की आलोचना, निन्दा तथा गर्हा करके शुद्धि करो।

श्री बृहत्कल्पसूत्र में कहा है—

कयाइ पावाइ जेहि गड्डाण वजए।

तेसिं तित्थयर वयणेहिं सुद्धिं अम्हाण कीरउ॥

यह गाथा बृहत्कल्पसूत्र के भाष्य की है। इसमें कहा है—माहकर्म के उदय से जो जो पापकर्म अर्थात् अनर्थ किये हों, आलोचना करने के लिए वह सब निष्कपटभाव से गुरु के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। शास्त्र धन्य है जिसने साधु-साध्वियों का आलोचना करके जीवन शुद्ध करने का चरित प्रकट करके हम सावधान कर दिया है। इस चरित से हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि कदाचित् अपने से ऐसा कोई कार्य हो जाय तो गुरु के समक्ष आलोचना करके इस प्रकार निवेदन करना चाहिए—'गुरुदेव! मुझ से अमुक प्रकार का अपराध हो गया है। आप भगवान् की वाणी के अनुसार मुझे शुद्ध और पवित्र कीजिए।' गुरु से इस प्रकार प्रार्थना करके उनके द्वारा दिये हुए दण्ड को स्वीकार करना चाहिए।'

शास्त्र में आलोचना के अनेक भेद किये गये हैं। मूल गुणों की भी आलोचना होती है और उत्तर गुणों का भी आलोचना होती है। साधुओं के मूल गुण पाँच महाव्रत हैं और श्रावक के मूलगुण पाँच अणुव्रत हैं। इनमें दोष लगना मूलगुणों में दोष लगना कहलाता है और उनकी आलोचना करना मूलगुण की आलोचना है। मूलव्रत में दोष लगने पर भी घबराने की आवश्यकता नहीं है कि हाय! मेरे मूलव्रत में दोष लग गया! दोष लगता है, इसी कारण तो आलोचना की जाती है। जो वस्त्र मलीन हो गया हो उसी को धोने की आवश्यकता होती है। साफ सुथरे वस्त्र को धोने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार दोष लगता है तभी आलोचना का विधान किया गया है।

बचपन में, जब मैं दीक्षा का उम्मीदवार था, प्रायः यह पद गाया करता था—

> बाहर भीतर समता राखो, पैन में पैन न काम्यी रे,
> कायर तो भाग्यो में ल्यावया, शूरा पार उतरसी रे ॥
> यो मन रमन चिन्तामणि सरखो, बारम्बार न मिलसी रे,
> चेत सके तो चेत रे जीवड़ा, पछी जोग न मिलसी रे ॥

अर्थात्—बाहर और भीतर समता धारण करो। बाहर से तो किसी अन्य अभिप्राय से समता का प्रदर्शन किया जा सकता है लेकिन भीतर समता रखना अत्यन्त ही कठिन है। हम साधु अगर बाहरी समता न रखकर किसी से लड़ें तो तुम्हीं हमें उपालम्भ देने लगोगे। अतएव बाह्य समता तो हमें रखनी ही पड़ती है। मगर जैसी समता बाहर रक्खी जाती है, उसी प्रकार भीतर भी होनी चाहिए। सच्ची समता वही है जो बाहर और भीतर एकसी हो। जो पुरुष बाहर की भाँति भीतर भी समता रखता है, वही सच्चा वीर है, दस लाख योद्धाओं को जीतने वाले वीर की अपेक्षा भी आन्तरिक समता धारण करने वाला और सच्ची आलोचना करने वाला बड़ा वीर है।

आलोचना किसके समक्ष करनी चाहिए, यह भी जान लेना आवश्यक है। आलोचना एक चौकानी कही गई है, एक छकानी कही गई है और विशेष प्रसंग उपस्थित होने पर आठकानी भी कही गई है। आठकानी से अधिक का विचार शास्त्र में कहीं नहीं मिलता। चौकानी आलोचना यह है जिसमें दो कान आलोचना करने वाले के हों और दो कान आलोचना सुनने वाले के हों। जब कोई पुरुष, आचार्य के समक्ष आलोचना करता है तो दो कान उसके अपने होते हैं और दो कान आचार्य के होते हैं। जब आलोचना करने वाली कोई स्त्री हो तो दो कान उस स्त्री के, दो कान आचार्य के और दो

कान उस साध्वी के होते हैं जो आलोचना कराने के लिए आ की साथ लाती है। यह दोनों प्रकार की आलोचनाएँ क्रमशः चौकन्नी और छकन्नी कहलाती हैं। आचार्य यदि स्थविर अथान् वृद्ध हों तो किसी दूसरे साधु को पास रखने की आवश्यकता नहीं होती। अगर आचार्य तरुण हों तो पास में एक साधु रखना आवश्यक है। इस प्रकार दो कान आलोचना करने वाली स्त्री के, दो कान साथी के, दो कान आचार्य के और दो कान साधु के होने से आलोचना आठकन्नी कहलाती है।

इस प्रकार की आलोचना गुप्त अपराध के लिए की जाती है। जो अपराध हो उसकी आलोचना प्रकट में ही करनी चाहिए। शास्त्र में कहा है—दसवें प्रायश्चित्त के अधिकारी को राजा या सेठ वगैरह के पास जाकर कहना चाहिए कि मुझसे अमुक प्रकार का अपराध हुआ है। उसकी शुद्धि के लिए अमुक दिन आलोचना होगी। आप कृपा करके अवश्य पधारें। सब लोगों से इस प्रकार कह कर और नियत समय पर उन सबके आ जाने पर अपने मस्तक पर पगड़ी रखकर गृहस्थ की भाँति यह प्रकट करे कि साधु अवस्था में मुझसे अमुक अपराध हो गया है। इस भाँति प्रकट में आलोचना करे और फिर विधिवत् शुद्ध हो। तात्पर्य यह है कि जो दोष प्रकट हो उसकी आलोचना भी प्रकट में ही करनी चाहिए। अगर किसी श्राविका को साध्वी के पास ही आलोचना करनी हो तो यह चौकन्नी (चतुष्कर्णी) भी हो सकती है। लेकिन अगर साधु वहाँ मौजूद हो तो साधु के पास ही आलोचना करनी चाहिए और इस दशा में आलोचना छकन्नी होनी चाहिए। हाँ, आचार्य तरुण हो तो एक साधु को भी साथ रखना चाहिए और इस दशा में आलोचना आठकर्णी होगी।

कहने का आशय यह है कि आलोचना में सरलता धारण करना चाहिए। अपने में कोई दोष आगया हो तो उसे कॉंटे के समान समझकर निकाल देना चाहिए। शरीर में कॉंटा लग गया हो तो उसे बाहर निकालना चाहिए या अन्दर ही रहने देना चाहिए? कॉंटा तो बाहर ही निकाला जाता है। इसी प्रकार मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शन शल्य भी आत्मा के कॉंटे के समान हैं। इस त्रिविध शल्य का आत्मा में रहने देना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है? किसी भाले की नौंक टूटकर शरीर में घुस जाय तो उसे निकालने में विलम्ब नहीं किया जाता, इसी प्रकार इस त्रिविध शल्य को तत्काल बाहर निकाल देना चाहिए। आलोचना द्वारा ही शल्य बाहर निकाले जा सकते हैं। अतएव अकृत्यों की आलोचना करने में भीरुता या कायरता मत दिखाओ। आप बनिया बनकर जो आघात तुम पीठ पर सहन करते हो, वही आघात वीर बनकर छाती पर सहन करो और अपने पापों का प्रायश्चित्त करो। इसी में आत्मा का कल्याण है।

भगवान् से यह प्रश्न किया गया था कि आलोचना से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि आलोचना द्वारा सरलता प्राप्त होती है। भगवान् का यह उत्तर हमें यह शिक्षा देता है कि सच्ची आलोचना वही है जो सरलतापूर्वक की जाय अथवा जिसके करने पर सरलता प्रकट हो। शास्त्र में कहा है कि जिस अपराध का दण्ड एक मास का है, उसकी आलोचना निष्कपटभाव से की जाय तो एक ही मास का दण्ड दिया जाता है। लेकिन कपट सहित आलोचना करने पर दो मास का दण्ड मिलता है। अर्थात् एक मास का दण्ड अपराध का होता है और एक मास का कपट करने का। यह विधान करके शास्त्रकारों ने माया-कपट का

महान् अपराध गिना है और इसी लिए भगवान् ने कहा है कि सरलतापूर्वक आलोचना करने वाले में माया कपट नहीं रहेगा।

संसार में भ्रमण कराने वाली माया, कपट या अविद्या ही है। कपट ही संसार का बीज है। भगवान् कहते हैं कि कपट अर्थात् माया के ही प्रताप से जीवों को स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बंध होता है। जो निष्कपटभाव से आलोचना करेगा और सरलता धारण करेगा उसे इन दोनों वेदों का बंध नहीं होगा। इतना ही नहीं, कदाचित् स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का बंध पहले हो चुका होगा तो उसकी भी निर्जरा हो जायगी।

कुछ लोग समझते हैं कि किये हुए कर्म भोगने ही पड़ते हैं। यह बात सत्य है, मगर साथ ही शास्त्र यह भी बतलाता है कि सरलता धारण करने से कृत कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है। कर्मों की निर्जरा न हो सकती होती तो मोक्ष का उपदेश वृथा हो जाता।

कपटहीन होकर अपने पापों की आलोचना करने से क्या लाभ होता है? इसके लिए टीकाकार ने संग्रह रूप में जो कथन किया है, उसका आशय यह है कि आलोचना करने से स्त्रीवेद या नपुंसक वेद का बंध नहीं होता। यही नहीं बल्कि पहले के बँधे हुए स्त्रीवेद या नपुंसक वेद रूप कर्म की निर्जरा भी हो जाती है और साथ ही साथ मोक्ष के विघातक अन्य कर्मों का भी नाश होता है। इस तरह सरलतापूर्वक आलोचना करने का फल महान् है, अतएव सरलता का महत्त्व भी बहुत है। और यदि सरलतापूर्वक परमात्मा को वंदन किया जाय तो आत्मा को परमात्मभाव की भी प्राप्ति होती है। दर्पण में मुख देखना हो तो आवश्यक है कि दर्पण और मुख के

बीच कोई व्यवधान न हो। अगर थोड़ा-सा भी व्यवधान हुआ तो मेंह नहीं गिर सकता। इसी प्रकार आलोचना करते समय, बीच में जरा भी कपट का व्यवधान रखा गया तो वह सच्ची आलोचना नहीं होगा एक प्रकार का ढोंग होगा। इससे आलोचना का असली लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए आलोचना कपटरहित हो करनी चाहिए।

संसार में जो भी कोई आविष्कार देखा जाता है, उसका मूल कारण दुःख है। लज्जा का दुःख न होता तो वस्त्र का आविष्कार किस लिए होता? भूख की पीड़ा न होती तो भोजन के आविष्कार की क्या आवश्यकता थी? इन व्यावहारिक उदाहरणों के अनुसार यदि आत्मा में किसी प्रकार की त्रुटि न होती तो आलोचना किस लिए और किसकी की जाती? मगर आत्मा में किसी प्रकार की त्रुटि है और इसी कारण आलोचना करने की आवश्यकता है। आत्मा में त्रुटि होना छद्मस्थ आत्मा का स्वभाव है। शास्त्रकारों का कथन है कि उस त्रुटि को दबा कर मत रक्खो। उसे सरलतापूर्वक बाहर निकालने का प्रयत्न करो। इस तरह त्रुटि दूर करने का प्रयत्न करने से आत्मा की अन्यान्य त्रुटियां भी दूर हो जाएँगी और आत्मा के अध्यवसायों में ऐसी उज्ज्वलता आएगी कि समस्त कर्म नष्ट हो जाएँगे। अपनी त्रुटियाँ दूर करने से अपने को तो लाभ है ही, साथ ही अन्य आत्माओं को भी लाभ पहुँचता है। अपनी आत्मा को लाभ होने से दूसरी आत्माओं को किस प्रकार लाभ होता है, यह बात दृष्टान्त द्वारा समझिए।

किसी धनाढ्य सेठ के पुत्र को कोई भयंकर रोग हुआ। पुत्र का रोग दूर करने के लिए सेठ ने अनेक वैद्य बुलाए। वैद्यों ने कहा- 'ऐसा रोग मिटाने के लिए करोड़ दवाओं की आवश्यकता है। इन

करोड़ों दवाओं का मूल्य भी करोड़ों रुपया होगा।' सेठ ने प्रश्न किया—'यह तो ठीक है, परन्तु थोड़ी थोड़ी लेने पर करोड़ दवाओं का वजन कितना अधिक हो जायगा?' वैद्यों ने कहा—'वजन तो अवश्य अधिक हो जायगा, मगर उस दवा से औरों को भी लाभ पहुँचेगा। आपके पुत्र का रोग नष्ट होने के साथ इस रोग के अन्य रोगियों को भी आरोग्यता मिलेगी। हमारे खयाल से तो आपके पुत्र को यह रोग, अन्य रोगियों का रोग मिटाने के लिए ही आया है।'

वैद्यों का यह कथन सेठ को उचित प्रतीत हुआ। उसने तिजोरी से रुपया निकाल कर दवाऍं संग्रह करवाईं। उन सब दवाओं से वैद्यों ने एक विशेष दवा तैयार की, जिसके सेवन से सेठ का लड़का नीरोग हो गया। तदनन्तर सेठ ने घोषणा करवादी—अमुक रोग की दवा हमारे पास मौजूद है। जो इस रोग से ग्रस्त हो, हमसे दवा ले जाए। इस घोषणा से अनेक लोग आकर सेठ से दवा लेने लगे और दवा का सेवन करके रोगमुक्त होने लगे।

अब आप विचार कीजिए कि सेठ के लड़के को रोग हुआ सो यह अच्छा हुआ या बुरा? वास्तव में इस सम्बन्ध में एकान्त रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मगर उस दवा के सेवन से जो रोगमुक्त हुए थे, उनका कहना यही था कि हमारे भाग्य से ही सेठ के लड़के को रोग हुआ था। उनका यह कथन सुनकर सेठ क्या कह सकता था?

इसी प्रकार आत्मा को किसी प्रकार की त्रुटि का रोग हुआ है। भगवान् महावीर महावैद्य के समान हैं। वे आलोचना की ही उस रोग की अमोघ औषधि बतलाते हुए कहते हैं—हे श्रमणो! हे श्रमणियो! यह औषध ऐसी अमोघ है कि इसके सेवन से तुम रोग

मुक्त हो जाओगे। इतना ही नहीं, किन्तु तुम्हारे साथ दूसरों के भी रोग मिट जाएँगे।' इस प्रकार भगवान् ने हम लोगों को अमोघ औषध बतलाई है। मगर जो औषध का सेवन ही नहीं करेगा, उसका रोग किस प्रकार मिटेगा? भगवान तो त्रिलोकीनाथ हैं। वह नरक योनि तक के जीवों का दुःख मिटाना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने निर्ग्रन्थप्रवचन रूपी औषध का उपदेश दिया है और कोई उसका सेवन करे या न करे, किन्तु हमें अर्थात् साधु साध्वी श्रावक श्राविका को तो भगवान् की बतलाई हुई दवा लेनी ही चाहिए। अगर हमने नियमित रूप से दवा का सेवन किया तो हमारा रोग नष्ट हो जायगा। हमारे रोग के नाश से दूसरों को भी दवा पर विश्वास होगा और वे भी उसका सेवन करके अपने भवभ्रमण का अन्त कर सकेंगे। इस प्रकार आलोचना करने से करने वाले को तो लाभ होता ही है, मगर दूसरों को भी काफी लाभ पहुँचता है।

आलोचना का उद्देश्य क्या है? आलोचना न करने से क्या हानि होती है? और आलोचना करने से किस फल की प्राप्ति होती है? इन सब प्रश्नों का समाधान करने वाली एक गाथा टीकाकार ने उद्धृत की है। वह यह है—

उद्धियदंडो साहू, अचिरं जे सामय ठाणं।
सोवि अणुद्धे दंडो ससारे पवडओ होति॥

अर्थात्—साधुओं के लिए यही उचित है कि उनकी आत्मा में यदि पापरूपी शल्य हो तो उसे बाहर निकाल दें, फिर चाहे वह मिथ्यात्वशल्य हो, निदानशल्य हो अथवा कषायशल्य हो। इस त्रिविध शल्य में से कोई भी शल्य घुस गया हो तो उसे बाहर करके

निःशल्य हो जाना चाहिये। इस प्रकार निःशल्य हो जाने से थोड़े ही समय में शाश्वत स्थान अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसके विरुद्ध जो साधु निःशल्य नहीं होता, अपनी आत्मा में पाप रहने देता है और अपने में से दह को बाहर नहीं कर देता, वह अनन्त संसार की वृद्धि करता है। अतएव जिन्हें संसार से बाहर निकलने की अभिलाषा है, उन्हें अपने पाप प्रकाशित करके, निष्कपटभाव से आलोचना करनी ही चाहिए।

पाँचवें बोल का वर्णन यहाँ समाप्त हो रहा है। इस बोल का वर्णन सुनकर हमें क्या करना चाहिए? इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है। भगवान् कहते हैं—'मैं तो सभी जीवों का कल्याण चाहता हूँ किन्तु अपना कल्याण अपने ही हाथ में है।'

सूर्य प्रकाश देता है और स्पष्ट कर देता है कि यह साँप है और यह फूलों की माला है। सूर्य के द्वारा इतना स्पष्टीकरण कर देने पर भी अगर कोई पुरुष साँप को ही माला समझकर पकड़ता है तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? इसी प्रकार शास्त्र स्पष्ट बतलाता है कि पापों को आत्मा से अलग कर दो। पापों को बाहर निकालने के लिए यह अपूर्व अवसर हाथ आया है। इस समय भी पापों का परित्याग न किया तो फिर कब करोगे? शास्त्र के इस स्पष्ट कथन के होते हुये भी अगर कोई अपने पाप नहीं त्यागता तो इसमें शास्त्र का क्या दोष है? कोई पुरुष ऊपर से पवित्रता का ढोंग करता है और भीतर पापों को छिपाता या दबाता है तो इसमें शास्त्र का क्या अपराध है?

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज कई बार कहा करते थे कि आजकल साधुओं में यह खराबी घुस गई है कि वे ऊपर से तो

साफ रहते हैं मगर भीतर पोल चलाते हैं। इस पद्धति से साधुओं की तथा समाज की बहुत हानि हुई है। आज भी यही देखा जाता है कि कतिपय साधु ऊपर से तो साधुता का सुन्दर स्वांग रचते हैं मगर भीतर पोल चलाते रहते हैं। देशनेताओं, समाजसेवकों और जातिसेवकों में भी कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं जो बाहर कुछ प्रकट करते हैं और भीतर कुछ और ही करते हैं। आज तो धर्ममार्ग में भी यही होने लगा है।

जिस काल में ऐसा अंधेर होता है, शास्त्रकार उसे विषम काल कहते हैं। ऐसा कोई काल नहीं है, जिसमें पाप न होते हों, मगर जिस काल में पापों को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया जाता, पाप होने पर प्रकट कर दिये जाते हैं और उनके परित्याग की भावना रहती है, उस काल में चाहे जितने पाप हों फिर भी वह कल्याण का ही काल कहलाता है। अपराध इसी काल में होते हैं, ऐसी कोई बात नहीं है। पहले भी अपराध होते थे। किन्तु वर्त्तमानकाल और भूत काल में अन्तर यह है कि भूतकाल में अपराध, अपराध समझे जाते थे और उन्हें छिपाया नहीं जाता था, जब कि वर्त्तमान काल में अपराधों को प्रकट करने की पद्धति बहुत ही कम दिखाई देती है और पापों एवं अपराधों को पाप एवं अपराध मानने वाले लोग भी बहुत कम नज़र आते हैं। देश भर में, चहुँ ओर फैले हुए इस रोग के कारण ही आज विदेशी लोग भारतीयों पर अधिक भरोसा नहीं करते। इतिहास के अवलोकन से प्रतीत होता है कि भारत में बहुत से ऐसे लोग भी हो गये हैं, जिन्होंने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए देशद्रोह तक किया है। अगर ऐसा हुआ तो इसके लिए शास्त्र दोष के पात्र नहीं हैं। शास्त्र तो स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सरल बनो, कपट न करो। अपराध के पाप से कपट का पाप कम नहीं बरन् ज्यादा ही है।

सरलता धारण करने से और अपराध को अपराध मानने से कितना लाभ होता है, इस बात के अनेक उदाहरण शास्त्र में तथा इतिहास में लिखे हैं। सती चन्दनबाला और मृगावती का उदाहरण बहुत ही बोधप्रद है।

सती चन्दनबाला महान सती मानी जाती है। वह समस्त सतियों में महती सती थी। इसी प्रकार मृगावती भी बड़ी सती मानी गई है। इन दोनों सतियों में पारस्परिक प्रेम संबंध भी खूब घना था। फिर भी एक दिन, अनजान में जब सती मृगावती अकाल में स्थान से बाहर रह गई तो सती शिरोमणि चन्दनबाला ने उनसे कहा—'आप सरीखी बड़ी सती को अकाल में बाहर रहना शोभा नहीं देता।' इस प्रकार चन्दनबाला ने मृगावती को मीठा उपालम्भ दिया। मृगावती सोचने लगी—'आप मुझे उपालम्भ सहना पड़ा।' यद्यपि मृगावती कह सकती थी कि मैं जान बूझकर बाहर नहीं रही। मगर उनमें ऐसा विनय था, ऐसी नम्रता थी कि वह ऐसा कह नहीं सकी। वह विनयपूर्वक खड़ी रहकर विचार करने लगी—'मुझ में कितना अज्ञान है कि मेरे कारण मेरी गुराणीजी को इतना कष्ट हुआ। मेरी अपूर्णता और मेरे अज्ञान के कारण ही यह हुआ है। मुझ में अपूर्णता न होती तो यह प्रसंग ही क्यों उपस्थित होता ?'

इस प्रकार अपने अज्ञान का विचार करते करते सारे संसार का विचार कर डाला कि अज्ञान ने क्या-क्या अनर्थ नहीं किये हैं ? अज्ञान ने मुझे संसार में इतना घुमाया है। इस प्रकार अज्ञान की निन्दा और अपनी भूल के पश्चात्ताप के कारण उनमें ऐसे उज्ज्वल भाव का उदय हुआ कि अज्ञान का सर्वथा नाश होगया और केवलज्ञान प्रकट हो गया। केवलज्ञान प्रकट हो जाने पर भी सती मृगावती खड़ी ही रहीं। इतने में उन्होंने अपने ज्ञान से देखा

कि एक काला साँप उसी ओर आ रहा है, जिस ओर महासती चन्दनबाला हाथ को तकिया बनाकर सो रही हैं। हाथ हटा न लिया जाय तो सम्भव है, साँप काटे बिना नहीं रहेगा। साँप न काट खाया तो कितना घोर अनर्थ हो जायगा! इस प्रकार विचार कर साँप का मार्ग रोकने वाला महासती चन्दनबाला का हाथ हटा कर एक ओर कर दिया। हाथ हटते ही चन्दनबाला की आँख खुली। आँख खुलते ही उन्होंने पूछा—'मेरा हाथ किसने खींचा?' मृगावती बोली—क्षमा कीजिए। आपका हाथ मैंने हटाया है।' चन्दनबाला ने फिर पूछा—'किसलिए हाथ हटाया है?' मृगावती ने उत्तर दिया—'कारणवश हाथ हटाने से आपकी निद्रा भंग हो गई। आप मेरा यह अपराध क्षमा करें।' चन्दनबाला ने कहा—'तुम अभी तक जाग ही रही हो?' मृगावती ने उत्तर दिया—'अब निद्रा लेने की आवश्यकता ही नहीं रही।' चन्दनबाला ने पूछा—'पर हाथ हटाने का क्या प्रयोजन था?' मृगावती ने कहा—'इस ओर से एक काला साँप आ रहा था। आपका हाथ उसके रास्ते में था। सम्भव था वह आपके हाथ में काट लेता। इसी कारण मैंने आपका हाथ हटा दिया।' चन्दनबाला ने फिर पूछा—'इस घोर अँधेरी रात में, काला साँप तुम्हें कैसे दिखाई दिया? इस अँधेरी रात में काला साँप दिखाई देना चर्मचक्षु का काम नहीं है। क्या तुम्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है?' मृगावती ने उत्तर दिया—'यह सब आपका ही प्रताप है।'

सती मृगावती में कितना विनय और कैसा पश्चात्ताप था! परिश्रम तो आज भी किया जाता है, मगर उसकी दिशा उलटी है। अर्थात् अपने अपराध छिपाने के लिए प्रयत्न किया जाता है। मृगावती जान-बूझकर अपने स्थान से बाहर

थी। अनजान में बाहर रह जाने पर भी अपने को अपराधी मानना कितनी सरलता है!

सती मृगावती को केवलज्ञान हुआ है, यह जानकर चन्दनबाला पश्चात्ताप करने लगीं। उन्होंने सोचा—'मैंने ऐसी उत्कृष्ट सती को उपालम्भ दिया और केवली की भी आशातना की। मुझसे यह बड़ा अपराध बन गया है। मैं अपना अपराध तो देखती नहीं, दूसरों को उपालम्भ देती हूँ!' इस प्रकार पश्चात्ताप करती हुई सती चन्दनबाला ने मृगावती से कहा—'मैंने आपकी अवज्ञा की है और मेरे कारण आपको कष्ट पहुँचा है। मेरा यह अपराध आप क्षमा करें। जब मैं अपना ही अपराध नहीं देख सकती तो दूसरों को किस बिरते पर उपालम्भ दे सकती हूँ?' मृगावती ने कहा—आपने मुझे जो उपालम्भ दिया, उसी का तो यह प्रताप है! फिर अनन्तज्ञान प्रकट हो जाने पर भी गुरु गुरानी का विनय तो करना ही चाहिए। अतएव आप किसी प्रकार का पश्चात्ताप न करें। हाँ, मेरे कारण आपको जो कष्ट हुआ है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।'

चन्दनबाला विचारने लगी—इस तरह का उपालम्भ मैंने न जाने किसे किसे दिया होगा! अज्ञान के कारण ऐसे अनेक अपराध मुझसे हुए होंगे। मैंने अपना अपराध तो देखा नहीं और दूसरों को ही उपालम्भ देने के लिए तैयार हो गई। चन्दनबाला इस प्रकार आत्मनिन्दा करने लगी। आत्मनिन्दा करते करते उसे भी केवलज्ञान प्रकट हो गया।

कहने का आशय यह है कि सरलता धारण करने से और अपने पापों का गम्भीर विचार करने से आत्मा नवीन कर्मों का

बन्ध नहीं करता, वरन् पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट कर डालता है। भगवान् ने कहा है—आलोचना करने से स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बन्ध नहीं होता। अगर इन वेदों का पहले बन्ध हो गया हो तो उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है। ऐसा होने पर भी हमें आलोचना के द्वारा पुरुषवेद के बन्ध की कामना नहीं करना चाहिये। हमारा एकमात्र उद्देश्य समस्त कर्मों का क्षय करना ही होना चाहिए।

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! आत्मनिन्दा से जीव क्या पाता है ?

उत्तर—आत्मदोषों की निन्दा पश्चात्ताप की भट्ठी सुलगाती है। पश्चात्ताप की भट्ठी में दोष भस्म हो जाते हैं और वैराग्य का उदय होता है। ऐसा विरक्त पुरुष अपूर्वकरण की श्रेणी (क्षपक श्रेणी) प्राप्त करता है और वह श्रेणी प्राप्त करने वाला अनगार मोहनायकर्म का क्षय करता है।

—. व्याख्यान —

आलोचना के विषय म प्रश्नोत्तर करन क पश्चात् निंदा के विषय में प्रश्नोत्तर किस अभिप्राय से किया गया है ? इस विषय में टीकाकार कहते हैं कि आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा करनी ही चाहिए, क्योंकि आत्मनिन्दा करने से ही आलोचना सफल होती है। सच्ची बात वही मानी जाती है जो कसौटी करने पर खरी उतरे। सच्चा सोना वही है जो कष, छेद और ताप की परीक्षा म खरा उतरता है। इसी प्रकार आलोचना भी वही सच्ची मानी जाती है जो आत्मनिन्दापूर्वक की गई हो।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जो शक्ति पराई निन्दा में खर्च करते हो, वह आत्मनिन्दा में ही क्यों नहीं लगाते ? आत्मनिन्दा के बिना की जाने वाली आलोचना, ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ऐसी आलोचना में पोल रहती है और एक न एक दिन पोल खुले बिना नहीं रह सकती। अतएव आलोचना के साथ आत्मनिन्दा भी करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—जब आत्मा ने किसी प्रकार का दुष्कृत्य किया हो तो आत्मा की निन्दा करना उचित है। अगर

कोई कुकृत्य ही न किया हो तो आत्मनिन्दा की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार कहते हैं—कोई पूर्ण पुरुष ही ऐसा हो सकता है जिसने किसी भी प्रकार का अपराध या दुष्कृत्य न किया हो। छद्मस्थ पुरुष से तो किसी न किसी प्रकार का अपराध हो ही जाता है। अतएव उस अपराध को छिपाने का प्रयत्न न करते हुए आत्मनिन्दा के द्वारा उसे दूर करना चाहिए। यद्यपि मूल पाठ में सिर्फ नि दा शब्द का प्रयोग किया गया है, तथापि उसका अभिप्राय यहाँ आत्मनिन्दा करना ही है। परनिन्दा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

शिष्य ने भगवान् से प्रश्न किया—आत्मनिन्दा करने से जीव को क्या फल मिलता है ? किसी भी कार्य का निर्णय उसके फल से ही होता है। आम और एरंड के वृक्ष में फल की भिन्नता से भेद किया जाता है। अतएव यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि आत्मनिन्दा करने से किस फल का लाभ होता है ? फल पर विचार करने से यह भी ज्ञात हो जायगा कि आत्मनिन्दा करना उचित है या नहीं ? इसी अभिप्राय से शिष्य ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि आत्मनिन्दा करने से क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—आत्मनिन्दा करने से 'मैंने यह खराब काम किया है' इस प्रकार का पश्चात्ताप होता है।

पश्चात्ताप करने में लोगों को यह भय रहता है कि मैं दूसरों के सामने हल्का या तुच्छ गिना जाऊँगा। मगर इस प्रकार का विचार उत्पन्न होना पतन का कारण है। सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा की जायगी तो 'मैंने अमुक दुष्कृत्य किया है अथवा मैंने अमुक पाप छिपाया है' इस प्रकार का विचार आये बिना रह ही नहीं सकता। ऐसा करने से आत्मा में अपने दोषों को प्रकट करने

का सामर्थ्य आता है और अपने पापों को छिपा रखने की दुर्बलता दूर होती है।

जैसे दर्पण में अपना मुख देखते हो, उसी प्रकार अपनी आत्मा को देखो तो विदित हो जायगा कि आत्मा में कितनी और किस प्रकार की त्रुटियाँ विद्यमान हैं? दर्पण में मुख देखने में तो भूल नहीं होती परन्तु आत्मनिन्दा करने में भूल हो जाती है। आत्मा अपनी निन्दा न करके परनिन्दा करने को उद्यत हो जाता है। जब तुम्हारे अन्तःकरण में निन्दा करने की प्रवृत्ति है तो फिर उसका उपयोग आत्मनिन्दा करके निर्दोष और निरपराध बनने में क्यों नहीं करते? परनिन्दा करके अपने दोषों की वृद्धि क्यों करते हो? जब दुर्गुण ही देखने हैं तो अपने ही दुर्गुण क्यों नहीं देखते? और उन्हीं दुर्गुणों की निन्दा क्यों नहीं करते? अपनी त्रुटियाँ दूर करने के लिए हमारे सामने क्या आदर्श है, यह बतलाने के लिए कहा गया है कि—

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कार्ये एकं महात्मनाम् ॥

अर्थात्—दुरात्मा अपने मन की, वचन की और काय की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न रखता है अर्थात् उसके मन में कुछ होता है, वचन से कुछ कहता है और कार्य कुछ और ही करता है। किन्तु महात्मा पुरुषों के मन, वचन और काय में एक ही बात होती है।

आत्मनिन्दा करने में इस नीतिवाक्य को आदर्श मानकर विचार करो कि मैं जिह्वा से जो कुछ कहता हूँ वह मेरे कार्य के अनुसार है या नहीं? ऐसा तो नहीं है कि मैं कहता कुछ और करता कुछ और हूँ? गिनती में कोई भूल नहीं होती। तुम पाँच और पाँच

का योग दस ही कहते हो—नौ या ग्यारह नहीं। इसी प्रकार समस्त ससार में यदि सत्य का ही व्यवहार हो तो कोई झगड़ा ही न रहे। लेकिन होता कुछ और ही है। जब दूसरे को ठगना होता है तो सत्यमय व्यवहार नहीं किया जाता। वहाँ कहना और करना अलग अलग हो जाता है। साँप के दो जिह्वाएँ होती हैं। उसे 'द्विजिह्व' कहते हैं। इसी आधार पर दो जीभ वाले साँप कहलाते हैं और साँप विषैला समझा जाता है। किन्तु मनुष्य के एक ही जीभ होती है। अतएव मनुष्य में दोहरी प्रवृत्ति होना उचित नहीं है। वाणी तथा कार्य की एकता ही मनुष्यता का प्रमाण है। जो व्यक्ति वाणी और कार्य के बीच का अन्तर समझेगा वह आत्मसुधार की दृष्टि से आत्मनिन्दा ही करेगा। वह परनिन्दा करने की झटपट में नहीं पड़ेगा।

वाणी और कार्य की तुलना करने के साथ मन और कार्य की भी तुलना करो और साथ ही साथ मन तथा वचन की भी तुलना करो। मन का भाव जुदा रखना और कार्य जुदा करना स्थानांगसूत्र के कथनानुसार विष के घड़े को अमृत के ढक्कन से ढँकने के समान है। ऐसा करना ससार को धोखा देना है। मन एव वचन में कुछ और होना और कार्य कुछ और करना आत्मा की बड़ी दुर्बलता है। आत्मा के कल्याण के लिए यह दुर्बलता दूर करनी ही चाहिए।

वास्तव में होना यह चाहिए कि मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में किसी प्रकार का अन्तर न रहे। मगर आज तो उलटी ही सीख दी जाती है कि काय से चाहे जो पाप करो पर वचन में सफाई रक्खो और यदि दूसरों को धोखा देने की यह कला तुमने सीख ली तो बस मौज करोगे। किन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा

जाय तो ऐसा करने में मौज नहीं है—आत्मा का पतन है। ज्ञानी जनों का कथन है कि बोलना कुछ, करना कुछ और सोचना कुछ, यह सब प्रवृत्तियाँ आत्मा को पतित करने वाली हैं। अगर आत्मा के उत्थान की इच्छा है तो इन प्रवृत्तियों से दूर ही रहो।

धृतराष्ट्र ने अपने अन्तिम समय में, कुन्ती के सामने आलोचना करके अपने पापों की शुद्धि की थी। उस आलोचना के सम्बन्ध में विचार करने से एक नई बात सामने आती है। अपने पापों की आलोचना करते हुए धृतराष्ट्र ने संजय से कहा—'हम लोग जब वन में भ्रमण कर रहे थे तो एक ऐसा अन्धकूप हमें मिला था, जो ऊपर से घास से ढँका था। उस अन्धकूप को खराब कहा जाय या अपने आपको खराब कहा जाय? मेरा सम्पूर्ण जीवन लोगों को अन्धकूप की भाँति, भ्रम में डालने में ही व्यतीत हुआ है। मैं ऊपर से तो पाडवों का भलाई चाहता था और शास्त्रविधि के अनुसार उन्हें आशीर्वाद भी देता था, मगर हृदय में यही था कि पाण्डवों का नाश हो और मेरे ही बेटे राज्य करें।'

तुम्हारा व्यवहार तो धृतराष्ट्र के समान नहीं है? धृतराष्ट्र की कूटनीति ने कितनी भयंकर हानि पहुँचाई थी, यह कौन नहीं जानता? उसकी कूटनीति के कारण ही महाभारत संग्राम हुआ था, जिसमें अठारह अक्षौहिणी सेनाओं का बलिदान हुआ था, अनेक तरुणियाँ विधवा हो गई थीं और अनेक बालक अनाथ बन गये थे, व्यापार चौपट हो गया था और चारों ओर चोर-डाकुओं का महान् उपद्रव मच गया था। धृतराष्ट्र ने कहा—यह सब अनर्थ मेरी ही कलुषित बुद्धि के कारण हुए हैं। मेरी बुद्धि में कलुषता न होती तो यह अनर्थ भी न होते। साधारण मनुष्य के पाप का फल उसी तक सीमित है मगर महान् पुरुष के पापों का फल सारे

और देश को भुगतना पड़ता है। इस नियम के अनुसार मेरे पापों का फल भी सर्वसाधारण को भोगना पड़ा है। मेरे हृदय में सदैव यह दुर्भावना बनी रही कि किसी तरह पाण्डवों का नाश हो और मेरे पुत्र निष्कण्टक राज्य भोगें। मैं पाण्डवों की अभिवृद्धि फूटी आँखों से भी नहीं देख सकता था। मैंने पाण्डवों को जो कुछ दिया, वह बहुत थोड़ा था, फिर भी पाण्डवों ने अपने पराक्रम से, लोकमत अनुकूल करके उसमें बहुत वृद्धि कर ली थी। पाण्डवों की इस अभिवृद्धि से मुझे प्रसन्न होना चाहिए था। मगर मेरे दिल में तो द्वेष का दावानल दीप्त हो रहा था। मैं उनका अभ्युदय नहीं देख सका। मैं अपने जिन पुत्रों को राज्य देने के लिए पाण्डवों का नाश चाहता था, मेरे वह पुत्र भी ऐसे थे कि राज्य के लिए उन्होंने भीम को विष खिला दिया था और पाण्डवों को भस्म कर डालने के लिए लाक्षागृह बनाया था। यह सब मायाजाल रचने के उपलक्ष्य में मैंने अपने पुत्रों की थोड़ी निन्दा की थी, लेकिन भावना मेरी भी यही थी कि किसी भी उपाय से पाण्डवों का नाश हो जाय। इस प्रकार मैं हृदय से पाण्डवों का अहित ही चाहता था, तथापि भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अन्य सज्जनों के समक्ष मेरी निन्दा न हो और मैं नीच न गिना जाऊँ, इस विचार से प्रेरित होकर कपटक्रिया करता रहता था। अगर मैं कपटक्रिया से बचा होता और निष्कपट व्यवहार किया होता तो आज मुझे पुत्रनाश का दुस्सह दुःख न देखना पड़ता।'

धृतराष्ट्र का इस प्रकार का
ताप का विवरण ग्रन्थों में सुरक्षित
उपयोगी प्रतीत होता है। धृतराष्ट्र कहते
होता कि मरी इस

इस भीषण पाप से बच गया होता। हे दुर्योधन! मेरे ही पाप के कारण भीम ने तेरा संहार किया है। निष्पापा पतिव्रता गांधारी ने बार-बार मुझसे कहा था कि दुर्योधन का त्याग कर दो। जब जूवा आरम्भ हुआ तभी गांधारी ने नम्रतापूर्वक मुझसे कहा था—'इस पापी दुर्योधन का परित्याग कर दो, अन्यथा उसके कारण कदाचित् कुल का भी संहार हो जायगा।' मगर पुत्रस्नेह के वश होकर मैंने उसकी बात नहीं मानी। पुत्र के प्रति अनुचित स्नेह—मोह रखने का यह परिणाम आया है कि आज कुल का संहार हो गया और पुत्र वियोग की वेदना भोगनी पड़ी।"

इस घटना का उल्लेख करने का आशय यह बतलाना है कि पाप को छिपा रखने से अन्त में कितना दुष्परिणाम होता है! यह बात ध्यान में रखकर पाप को दबाने की चेष्टा मत करो। उसे तत्काल प्रकाश में ले आओ।

सिद्ध अर्गन होते चाह चली, स्वर कूकर की धिक्कार उसे,
जिन खाय के अमृत चाह रही, लीद पशुअन की धिक्कार उसे।
निन पाय के राज की आश रही चक्की चाटन की धिक्कार उसे,
निन पाय के ज्ञान की आश रही जग विषयन की धिक्कार उसे।

इस कविता में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे दूसरे के बोधक हैं। मगर हमारे लिए विचारणीय यह है कि मधुर वाद्य की मनोहारिणी ध्वनि यदि कर्णगोचर होती हो तो उसे छोड़कर गधे की कर्णकटुक आवाज सुनने की इच्छा करने वाले को धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार जो पुरुष अपने पाप छिपाता है तथा सुकृत करने की शक्ति और योग्य अवसर पा करके भी दुष्कृत करता है, उसके लिए धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त जो अपनी आत्मा

की निन्दा नहीं करता और परनिन्दा के लिए कमर कसे रहता है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है। जो पुरुष अमृत के समान भोजन का त्याग करके गधे की लीद खाने दौड़ता है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है। मतलब यह है कि आत्मनिन्दा अमृतमय भोजन के समान है और पराई निन्दा करना गधे की लीद के समान है। तुम्हारे पास आत्मनिन्दारूपी अमृतमय भोजन है तो फिर परनिन्दारूपी गधे की लीद खाने के लिए क्यों दौड़ते हो? अपनी आत्मा को न देखना और दूसरों की निन्दा करना एक भयानक भूल है।

कवि कहता है—किसी पुरुष को चक्रवर्ती की कृपा से राज्य मिल गया हो, फिर भी वह अगर चक्की चाटने की इच्छा करता है तो उसे धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहा जाय? क्योंकि चक्की चाटने का स्वभाव तो कुत्ते का है। कवि के इस कथन को लक्ष्य में रखकर आप अपने विषय में विचार करें कि आपकी आत्मा तो ऐसी भूल नहीं कर रही है? न जाने किस प्रबल पुण्य के उदय से आपको चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष से भी अधिक मूल्यवान् मानव शरीर मिला है। चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष तो मिल जाय मगर मनुष्य शरीर न मिले तो यह सब चीजें किस काम की? ऐसा उत्तम मानव जन्म पा करके भी जो आत्मनिन्दा करने के बदले परनिन्दा में प्रवृत्त होते हैं, उनका कार्य राज्य मिलने पर भी चक्की चाटने के समान है।

आत्मनिन्दा द्वारा सब तरह का सुधार हो सकता है। पाप खराब है, इसलिए पाप की निन्दा की जाती है, मगर जिस पाप को तुम खराब मानते हो और जो वास्तव में ही खराब है अथवा जिस पाप के कारण तुम पराई निन्दा करते हो, वह पाप तुम्हारे भीतर तो नहीं है? उदाहरणार्थ—हरामखोरी करना खराब काम है।

अतएव एक आदमी दूसरे को हरामखोर कहकर धिक्कारता है। मगर उस धिक्कार देने वाले को देखना चाहिए कि मुझमें भी तो यही बुराई नहीं है ? अगर मुझ मे यह बुराई है तो अपनी बुराई की ओर से आँख फेर कर दूसरे की ही बुराई क्या देखी जाय ? कदाचित् दूसरे की निन्दा करके तुम अपनी मित्रमण्डली में भले आदमी कहला जाओ, परन्तु ज्ञानी जन तो वास्तविक बात के सिवाय और कोई बात अच्छा नहीं समझते। अतएव उनके सामने परनिंदा करके तुम भले नहीं कहला सकते।

कवि अन्त में यही कहता है कि जो व्यक्ति स्वयं बुरा होते हुए भी दूसरों की निन्दा करके अपने आपको भला सिद्ध करने की चेष्टा करता है, उसे धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहा जाय ? जो अपने को ज्ञानी कहलाकर भी विषयों की आशा रखता है, वह अज्ञानियों से भी अधिक खराब है।

ऊपर कही हुई बातें भलीभाँति समझ लेने से आत्मनिन्दा की भावना जागृत होगी और जब आत्मनिन्दा की भावना जागृत होगी तो पापों के लिए पश्चात्ताप भी होगा। भक्तजन आत्मनिन्दा करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। वे स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर देते हैं —

> हे प्रभु ! हे प्रभु ! शूं कहूँ, दीनानाथ दयाल।
> हूँ तो दोष अनन्तनु, भाजन छु करुणाल ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! मैं अपने दोषों का कहाँ तक वर्णन करूँ ! अनजान में मैंने बहुतेरे दोष किये हैं। उनकी बात ही अलग है। मगर जान बूझकर जो दोष किये हैं और जिनकी मैं निन्दा भी करता हूँ, वही दोष फिर करने लगता हूँ। मैं दूसरे के दोष आँख

पसार कर देखने को तत्पर रहता हूँ मगर अपने पहाड़ से दोषों को भी देखने की आवश्यकता नहीं समझता। मेरी यह स्थिति कितनी दयनीय है!

राजनीति, तथा धार्मिक एवं सामाजिक व्यवहार में अगर अपने दोष दर्शन की पद्धति स्वीकार की जाय तो आत्मा का कितना कल्याण हो? मगर आजकल क्या दिखाई देता है? मजिस्ट्रेट डेढ़ रुपया चुराने वाले को सजा देता है और स्वयं हजारों रुपया चोरी से हजम कर जाता है। अगर वह अपना आर आँख उठाकर देखे तो उसे विदित होगा कि उसका कार्य कितना अनुचित है। जब मनुष्य अपने कार्य का अनौचित्य सोचता है तो उसे पश्चात्ताप हुए बिना नहीं रहता।

भक्तजन अपने दोष परमात्मा के समक्ष नम्र रूप में प्रकट कर देते हैं। वे कहते हैं—'प्रभो! मैं अनन्त पातकों का पात्र हूँ।' इस प्रकार अपने पापों के प्रकाशन से आत्मा पाप भार से हलका हो जाता है। आत्मनिन्दा के द्वारा आत्मा जब निष्पाप बन जाता है तो उसे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। हाँ, पाप को छिपान का परिणाम बड़ा ही भयकर होता है। दबाये हुए पाप का परिणाम किस प्रकार भयंकर होता है, यह बात धृतराष्ट्र की आलोचना से सहज ही समझी जा सकती है।

आत्मनिन्दा करने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—आत्मनिन्दा करने का फल तो प्रत्यक्ष ही है। आत्मनिन्दा करने वाले के अन्तःकरण में पश्चात्ताप पैदा होता है कि—'हाय! मुझसे यह दुष्कृत्य बन गया!

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संसार के जो पदार्थ एक जगह सुखदायक हैं, वही दूसरी जगह दुःखप्रद मालूम होते हैं। यह बात ध्यान में रखते हुए विवेक के साथ विचार किया जाय तो आत्मा को सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता। सांसारिक पदार्थ एक जगह सुखदायक होते हुए भी दूसरी जगह दुःखजनक हैं, यह बात सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। ऊन की बारीक और मुलायम शाल उत्तम श्रेणी की मानी जाती है, परन्तु उसी ऊन का एक बारीक तन्तु यदि आँख में पड जाय तो कैसा लगता है? जिस ऊन का तंतु शरीर पर सुखद मालूम होता था, वही आग में पड कर घोर वेदना उत्पन्न करता है। यही हाल अन्य वस्तुओं का है। इसीलिए संसार के पदार्थ दुःखजनक कहे गये हैं। संसार के पदार्थ यदि सचमुच ही सुखद होते तो किसी भी समय और किसी भी अवस्था में दुखदायी न होते। मगर बात ऐसी नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि सांसारिक पदार्थ सुखकर नहीं, दुःखदायक हैं।

संसार के पदार्थों में सुख नहीं है तो सुख क्या है, कहाँ है और किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तविक सुख वह है जो कभी दुःख रूप परिणत न हो। जिसमें से कभी दुःख के अंकुर नहीं फूट सकते, वही सच्चा सुख है। एक अवस्था में सुखरूप और दूसरी अवस्था में दुःखरूप प्रतीत होने वाला सच्चा सुख नहीं है। भूख लगने पर लड्डू मीठा और रुचिकर लगता है, किन्तु भूख शान्त होने के पश्चात् वही लड्डू मुसीबत बन जाते हैं। लड्डू एक समय रुचिकर और दूसरे समय अरुचिकर क्यों लगते हैं? लड्डू अगर दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं तो उन्हें सुखरूप कैसे कहा जा सकता है? इस उदाहरण पर

विचार करके मानना चाहिए कि विषयजन्य सुख, सुख नहीं सुखाभास है।

एक आदमी भोजन करने बैठा है। प्रिय और मधुर पक्वानों से सजा हुआ थाल उसके सामने है। सुन्दरी पत्नी सामने बैठ कर पंखा झल रही है। इसी समय उसके मुनीम ने आकर समाचार दिया—परदेश में आपके पुत्र की मृत्यु हो गई है। इस स्थिति में वह भोजन विष के समान प्रतीत हो और आँखों से आँसू बहें, यह स्वाभाविक है। अब विचार कीजिए कि भोजन और भामिनी में अगर सुख होता तो वे उस समय दुःखरूप क्यों प्रतीत होने लगते? जब कि वह दुःखरूप प्रतीत होते हैं तो उन्हें सुखरूप कैसे माना जा सकता है?

इस प्रकार संसार के किसी भी पदार्थ में सुख नहीं है। सांसारिक पदार्थों में जो सुख प्रतीत होता है वह विकारी सुख है-अविकारी सुख नहीं। अविकारी सुख तो सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र में ही है। इस सुख की प्राप्ति उसी समय होती है जब सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य पैदा हो जाय। यह सुख प्राप्त होने पर किसी भी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। अतएव सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा करो, जिससे पश्चात्ताप हो पश्चात्ताप से वैराग्य हो और वैराग्य से सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप सच्चे सुख की प्राप्ति हो।

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही देखना और मानना सम्यग्ज्ञान का अर्थ है। हिंसा को हिंसा मानना और अहिंसा को अहिंसा समझना चाहिए। सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए हिंसा और अहिंसा का स्वरूप तथा इन दोनों के भेद समझने आवश्यक हैं। ऐसा करने

न ही हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा माना जा सकता है। यहाँ अहिंसा के संबंध में कुछ प्रकाश डाला जाता है।

'अहिंसा' शब्द 'अ' तथा 'हिंसा' के संयोग से बना है। व्याकरण के नियमानुसार यहाँ नञ् समास किया गया है। जहाँ नञ् समास होता है वहाँ कहीं कहीं पूर्व पदार्थ को प्रधान बनाया जाता है मगर 'अहिंसा' शब्द में पूर्व पदार्थ प्रधान नहीं हो सकता। जैसे 'अमक्षिक' पद में पूर्व पदार्थ प्रधान है। पूर्व पदार्थ प्रधान होने के कारण 'अमक्षिक' पद से मक्खी का अभाव प्रतीत होता है। 'अहिंसा' पद में भी यदि पूर्व पदार्थ की प्रधानता मानी जाय तो अहिंसा का अर्थ 'हिंसा का अभाव' होगा। लेकिन इस अभाव से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। अतएव 'अहिंसा' पद को पूर्व पदार्थ प्रधान नहीं माना जा सकता।

नञ् समास में कहीं कहीं उत्तर पदार्थ की प्रधानता होती है। जैसे 'अराजपुरुष' पद में उत्तर पद की प्रधानता है। अतएव 'अराजपुरुष' कहने से यह जाना जा सकता है कि राजपुरुष से भिन्न कोई और मनुष्य है। 'अहिंसा' शब्द को अगर उत्तर पद प्रधान माना जाय तो एक हिंसा से भिन्न किसी दूसरी हिंसा का बोध होगा, जैसे कि 'अराजपुरुष' कहने से राजपुरुष से भिन्न पुरुष का बोध होता है। 'अहिंसा' पद को उत्तर पद प्रधान मानकर उससे किसी दूसरी हिंसा का ग्रहण करना उचित नहीं है, क्योंकि हिंसा चाहे कोई भी क्यों न हो, कल्याणकर नहीं हो सकती। शास्त्रकार अहिंसा को ही कल्याणकारिणी मानते हैं। ऐसी दशा में अहिंसा शब्द का 'दूसरे प्रकार की हिंसा' अर्थ नहीं माना जा सकता। इस प्रकार 'अहिंसा' शब्द में उत्तर पद की प्रधानता भी नहीं मानी जा सकती।

नञ् समास में कहीं कहीं अन्य पदार्थ की प्रधानता भी रखी जाती है। जैसे—'अगोष्पद' शब्द में अन्य पदार्थ की प्रधानता है। 'अगोष्पद' शब्द कहने से 'जहाँ गाय का पैर न हो ऐसा वन या प्रदेश' अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार 'अगोष्पद' शब्द में अन्य पदार्थ (वन प्रदेश) की प्रधानता है। अगर अहिंसा शब्द में अन्य पदार्थ की प्रधानता मानी जाय तो 'अहिंसा' का अर्थ होगा—'ऐसा मनुष्य जिसमें हिंसा नहीं है।' अर्थात् जिस पुरुष में हिंसा नहीं है वह पुरुष 'अहिंसा' कहलाएगा। परन्तु पुरुष द्रव्य है, क्रियाविशेष नहीं है और अहिंसा क्रिया विशेष है। अहिंसा व्रतरूप है परन्तु पुरुष व्रतरूप नहीं हो सकता। अतएव 'अहिंसा' में अन्य पुरुष की प्रधानता मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।

नञ् समास में कहीं-कहीं 'उत्तर पदार्थ का विरोधी' ऐसा अर्थ भी होता है। जैसे 'अमित्र' शब्द में उत्तर पदार्थ का विरोधी अर्थ है। 'अमित्र' शब्द से मित्र का विरोधी अर्थात् शत्रु अर्थ प्रतीत होता है। 'अहिंसा' शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार—उत्तर पदार्थ का विरोधी करना चाहिए। अर्थात् यह मानना चाहिए कि जो हिंसा का विरोधी हो, वह अहिंसा है। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ करने से पूर्वोक्त दोषों में से कोई दोष नहीं आता। अतः अहिंसा का अर्थ हिंसा विरोधी रक्षा अर्थ करना युक्तिसंगत और शास्त्रानुकूल प्रतीत होता है। विद्वानों ने नञ् समास के छह अर्थ बतलाये हैं। उनका कहना है—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्व तदल्पता।
अप्राशस्त्य विरोधश्च नञर्थाः षट्प्रकीर्तिताः ॥

अर्थात्—नञ् के छह अर्थ हैं। उनमें पहला अर्थ है—तत्सादृश्य—उसी जैसा। यथा 'अब्राह्मण' कहने से ब्राह्मण के

समान क्षत्रिय आदि अर्थ होता है, पत्थर आदि अर्थ नहीं हो सकता।

नञ् का दूसरा अर्थ 'अभाव' है। जैसे 'अमक्षिका' कहने का अर्थ 'मक्खी का अभाव' होता है।

नञ् का तीसरा अर्थ 'तद्‌न्यत्व' अर्थात् 'उससे भिन्न' है। जैसे—'अनश्व' कहने से घोड़े से भिन्न दूसरा (गधा आदि) अर्थ समझा जाता है।

नञ् का चौथा अर्थ 'तदल्पता' अर्थात् 'कमी' होता है। जैसे—'अनुदरा कन्या।' 'अनुदरा कन्या' का सामान्य अर्थ है—बिना पेट की कन्या। परन्तु बिना पेट का कोई भी मनुष्य नहीं हो सकता, अतएव 'अनुदरा कन्या' कहने का अर्थ होगा—'छोटे पेट वाली कन्या।' यहाँ 'अनुदरा' शब्द पेट का अभाव नहीं बतलाता वरन् उदर की अल्पता बतलाता है।

नञ् का पाँचवाँ अर्थ है—अप्रशस्तता। जैसे—'अपशवो ऽन्येऽगोऽश्वेभ्य' अर्थात् 'गाय और घोड़ा के सिवाय अन्य जानवर अपशु हैं।' इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि गाय और घोड़ा के सिवाय अन्य जानवरों में पशुत्व का अभाव है। इस कथन का सही अर्थ यह है कि अन्य जानवर उत्तम पशु नहीं हैं। गाय और घोड़ा को छोड़कर अन्य पशु उत्तम पशु नहीं हैं। यही कहने वाले का अभिप्राय है।

नञ् का छठा अर्थ है—विरोधी वस्तु को बतलाना। जैसे 'अधर्म' शब्द कहने से धर्म का अभाव नहीं समझा जा सकता, वरन् धर्म का विरोधी अधर्म अर्थात् पाप अर्थ ही समझना सगत होता है।

होते हैं, नाक, कान, आँख आदि इन्द्रियों को किस प्रकार अपना अपना भाग मिलता है, यह बात हम नहीं देख सकते। इसी प्रकार हम यह भी नहीं देख सकते कि कर्म आत्मा को किस प्रकार क्या करते हैं। मगर ज्ञानी पुरुष यह सब जानते हैं। कर्म आत्मा में क्या परिणति उत्पन्न करते हैं, यह बात आप ज्ञानियों के वचन पर श्रद्धा करके ही मान सकते हैं। वैद्य किसी रोग का उपशम करने के लिए औषध देता है। रोगी वैद्य पर विश्वास करके ही औषध सेवन करता है। रोगी स्वय नहीं देख सकता कि औषध पेट में जाकर क्या क्रिया करती है, सिर्फ हकीम पर श्रद्धा रखकर सेवन करता जाता है। इसी प्रकार कर्म किस प्रकार क्रिया करते हैं और उनका विनाश किस प्रकार होता है, यह बात हम नहीं देख सकते। तथापि ज्ञानी पुरुष तो सम्यक् प्रकार से जानते ही हैं। तुम दवा द्वारा होने वाली क्रिया नहीं देख सकते किन्तु दवा से होने वाला परिणाम अवश्य देख सकते हो। इसी तरह आत्मा में कर्म जो कुछ करते हैं यह तुम नहीं देख सकते किन्तु कर्म का फल देख सकते हो और उसका अनुभव भी कर सकते हो।

सारांश यह है कि ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर विश्वास करके हम यह मानते हैं कि आत्मा में कर्म इस प्रकार की क्रिया करते हैं। जिन ज्ञानियों ने हमें बतलाया है कि कर्मों का फल दुख दायी होता है, उन्हीं ज्ञानियों ने यह भी प्रकट किया है कि पश्चात्ताप करने से आत्मा को अपूर्वकरण गुणश्रेणी की प्राप्ति होती है। जैसे औषधि रोगों को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अपूर्वकरण गुण श्रेणी पूर्वसंचित पापों को खींचकर जला डालती है अर्थात् मोहनीय कर्म का नाश कर देती है। मोहनीय कर्म का नाश होने पर शेष कर्म भी उसी प्रकार हट जाते हैं, जैसे सेनापति के मर जाने पर सैनिक

भाग छूटते हैं। अथवा जैसे सूर्योदय होने से तारागण छिप जाते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश फीका पड़ जाता है उसी प्रकार पश्चात्ताप से होने वाली अपूर्वकरण गुणश्रेणी द्वारा मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है और उसके नाश होने पर अन्यान्य कर्म भी नष्ट हुए बिना नहीं रहते।

पश्चात्ताप का फल बतलाते हुए टीकाकार ने एक सग्रह-गाथा कही है—

उवरिमठिय दलिय हिट्ठिमठाणेसु कुणइ गुणसेढि।
गुणसंकम्म करेई पुण असुहाओ सुहम्मि पक्खिवई॥

अपूर्वकरण गुणश्रेणी ऊपर के स्थान के कर्मपुद्गलों को खींचकर अध स्थान पर ले आती है। जैसे—कोई व्यक्ति एक पुरुष को पकड़ना चाहता था। मगर वह शक्तिशाली होने के कारण पकड़ में न आया। यह उसका उपरितन (ऊँचा) स्थान कहलाया। अब कोई अधिक शक्तिमान सामर्थ्य पुरुष उसे पकड़कर पहले पकड़ने वाले को सौंप दे तो वह पकड़ में आ गया। यह उसका अध (नीचा) स्थान कहलाया। इसी प्रकार जो कर्म उदय में नहीं आते थे, उन्हें पकड़कर अपूर्वकरण गुणश्रेणी उदय में ले आती है और उन कर्मों में गुणसंक्रमण कर देती है। मान लीजिए—एक जगह लोहा अधर लटका है। वह इतनी ऊँचाई पर है कि आपके पकड़ में नहीं आता। परन्तु किसी ने खींचकर तुम्हें पकड़ा दिया। तुमने उसे पकड़कर पारसमणि का स्पर्श कराया और वह सोना बन गया इसी प्रकार जो कर्म उदय में नहीं आते थे, उन्हें करणगुणश्रेणी उदय में ले आती है और उनमें गुणसंक्रमण कर देती है अर्थात् पाप को भी पुण्य बना देती है। आपके हाथ में लोहा हो और उसे सोना बनाने का सुयोग मिल जाय तो क्या आप वह सुयोग हाथ

से निकलने देंगे ? ऐसा सुअवसर कौन चूकेगा ? पारस के संयोग से लोहा, सोना बन जाय तो भी वह आत्मा को वास्तविक शान्ति नहीं पहुँचा सकता, परन्तु पश्चात्ताप में यह विशेषता है कि वह लोहे को ऐसा सोना बनाता है जो आत्मा को अपूर्व, अद्भुत, अनिर्वचनीय और अक्षय शान्ति प्रदान करता है।

जो पश्चात्ताप पाप को भी भस्म कर डालता है उसे करने का अवसर मिलने पर भी जो व्यक्ति पश्चात्ताप न करके पाप का गोपन करता है, उसके विषय में एक भक्त ने ठीक ही कहा है—

> अवगुण ढांकन काज करूँ जिनमत क्रिया ।
> तजूँ न अवगुण-चाल अनादिनी ज प्रिया ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! मैं अवगुणों को छिपाने के लिए जिनमत की क्रिया करता हूँ और ऐसा करके अपने अवगुण छिपाता हूँ—उनका त्याग नहीं करता। मेरी यह कैसी विपरीत क्रिया है !

महामति आत्मा का विचार कुछ विलक्षण ही होता है। विचारशील व्यक्ति के विचारों का आभास देने के लिए द्रौपदी और युधिष्ठिर के बीच जो वार्त्तालाप हुआ था, यहाँ उसका उल्लेख किया जाता है।

द्रौपदी बुद्धिमती थी। उसे समझा सकना सहज काम नहीं था, क्योंकि वह सहज ही कोई बात नहीं मान लेती थी। वह उस बात के विरुद्ध तर्क भी करती थी। भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर से कहा करते थे—'हम आपकी आज्ञा के अधीन हैं। हर हालत में हम आपका आदेश शिरोधार्य करेंगे ही परन्तु द्रौपदी को आप यह बात भलीभाँति समझा दीजिए। इस प्रकार कोई बात द्रौपदी के गले उतारना टेढ़ी खीर समझी जाती थी।

पहली भूल के पाप का प्रायश्चित्त था। मेरी इच्छा थी, मैंने पहली बार जो भूल की है उसका पश्चात्ताप मुझे करना ही चाहिए। उस भूल का दण्ड मुझे भोगना ही चाहिए। मैं उस भूल के दण्ड से बचना नहीं चाहता था। यद्यपि अपनी भूल का तात्कालिक फल मुझे मिल गया था, पर तुम्हारे वरदान से वह दण्ड क्षमा कर दिया गया था। भूल करके तुम्हारे वरदान के कारण दण्ड से बच निकलना कोई अच्छी बात नहीं थी। जो स्वयं पाप करता है किन्तु पत्नी के पुण्य द्वारा, पाप के दण्ड से बचना चाहता है, वह धर्म को नहीं जानता। इसके अतिरिक्त काका ने तुम्हें जो वरदान दिया था, वह हृदय परिवर्तन के कारण नहीं वरन् भय के कारण दिया था। उनके हृदय में सचमुच ही परिवर्तन हुआ होता तो वह दूसरी बार भी हम लोगों को वन में न जाने देते। वास्तव में उनका हृदय बदला नहीं था। बल्कि उनके हृदय में यह भावना थी कि किसी भी उपाय से पाण्डव दूर चले जाएँ और मेरे पुत्र निष्कंटक राज्य भोगें। हृदय में इस प्रकार की भावना होते हुए भी, लोकापवाद के भय से ही काका ने मीठे वचन कहकर तुम्हें वरदान दिया था। अतएव मैंने सोचा—मुझसे जो अपराध हुआ है, उसके दण्ड से बच निकलना उचित नहीं है। मुझे अपनी भूल का फल भोगना ही चाहिए। मैं दुर्योधन से यह कहना चाहता था कि मुझे जो करना हो सो कर, लेकिन मैं पत्नी को मिले वरदान के कारण वनवास से नहीं बचना चाहता। मैं मन ही मन यह कहने का विचार कर ही रहा था कि उसी समय दुर्योधन का आदमी मेरे पास आया। उसने मुझसे कहा—'आपको दुर्योधन महाराज फिर जूआ खेलने के लिए बुलाते हैं।' दुर्योधन का यह संदेश सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने निश्चय किया—इस बार फिर सर्वस्व हार जाना ही उचित है, जिससे मैं

युधिष्ठिर—देवी ! हम लोग जब वन में चलते हैं तो अपने पैर के नीचे फूल भी आ जाते हैं। यद्यपि उस पैर से कुचलकर हम उसका अपराध करते हैं तथापि वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। जब फूल भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो फिर दुर्योधन की करतूत देखकर मैं अपना स्वभाव कैसे छोड़ दूं ? दुर्योधन हमारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करे परन्तु मैं अपना क्षमाभाव नहीं त्याग सकता। जैसे भीम को गदा का और अर्जुन का गांडीव का बल है, उसी प्रकार मुझमें क्षमा का बल है। यद्यपि गदा और गांडीव का प्रयोग जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसा क्षमा का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता और न उसका तात्कालिक फल ही दृष्टिगोचर होता है। परन्तु मुझे अपनी क्षमा पर विश्वास है। मैं विश्वास पूर्वक मानता हूँ कि जैसे दीमक वृक्ष को खोखला कर देती है उसी प्रकार मेरी क्षमा ने दुर्योधन को खोखला बना दिया है। दीमक के द्वारा खोखला होने के पश्चात् वृक्ष चाहे आँधी से गिरे या बरसात से, मगर उसे खोखला बनाने वाली चीज तो दीमक ही है। इसी प्रकार दुर्योधन का पतन चाहे गदा से हो या गांडीव से, लेकिन उसे निःसत्व बनाने वाली मेरी क्षमा ही है। अगर मेरी क्षमा उसे खोखला न कर सकी तो गदा या गांडीव का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

द्रौपदी ने कहा—धर्म की यह तराजू अद्भुत है! आपके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि आप प्रत्येक कार्य धर्म की तुला पर तोल कर ही करते हैं।

युधिष्ठिर—साधारण चीजें तोलने के कांटे में कुछ पासंग भी रहता है, लेकिन जवाहिर या हीरा माणिक तोलने के कांटे में रत्तीभर भी पासंग नहीं चल सकता। इसी प्रकार धर्म का कांटा,

बिना किसी अन्तर के, ठीक निर्णय दे देता है। मैं अपने धमकाटे में तनिक भी अन्तर नहीं आने देता। मैं अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करूँगा और इसका कारण यही है कि मेरी धर्मतुला ऐसा करने के लिए मुझे बाध्य करती है।'

मित्रो! आपको भी युधिष्ठिर के समान क्षमा धारण करनी चाहिए या नहीं? अगर आप ऐसी क्षमा का व्यवहार करना आपके लिए शक्य न हो तो कम से कम श्रद्धा में तो क्षमा रखी ही जा सकती है। क्षमा पर परिपूर्ण श्रद्धा रखना तो सम्यग्दृष्टि का स्वाभाविक गुण है। सब पर समभाव रखने वाला ही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। समभाव धारण करने वाले में इसी प्रकार की क्षमा की आवश्यकता है। आज आप लोगों के व्यवहार में इस क्षमा के दर्शन नहीं होते, मगर युधिष्ठिर जैसों के चरित में वह मिलती ही है। अतएव उसकी शक्यता के सम्बन्ध में शंका नहीं उठाई जा सकती।

११

सातवाँ बोल।

गर्हा

निंदा के सम्बन्ध में जो प्रश्नोत्तर चल रहा था, वह समाप्त हुआ। आत्मनिंदा, गर्हापूर्वक करनी चाहिए। अतएव यहाँ गर्हा के सम्बन्ध में विचार करना है। गर्हा के सम्बन्ध में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है —

प्रश्न—गरहणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—गरहणयाए अपुरेकारं जणयइ, अपुरेकारगए ण जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ, पसत्थजोगपडिवन्ने य ण अणगारे अणंतघाई पज्जवे खवेइ ॥७॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! गर्हणा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गर्हणा करने से जीव दूसरों से सन्मान नहीं पाता। कदाचित् उसमें खराब भाव उत्पन्न हो जाएँ तो भी वह अपमान के भय से खराब विचारों को हृदय से बाहर निकाल देता है अर्थात् शुभ परिणाम वाला हो जाता है। प्रशस्त परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षय करके वह अनन्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

भगवान् से शिष्य ने यह प्रश्न पूछा है कि—'हे भगवन्! गर्हा—अपने दोषों का दूसरे के समक्ष प्रकाशन—करने से जीव को क्या लाभ होता है?' भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहा है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है गर्हा वास्तव में किसे कहते हैं? निन्दा और गर्हा में क्या अन्तर है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं—अनेक पुरुष ऐसे हैं जो अपनी आत्मा को नीच मानते हैं और कहते हैं—

> जेती वस्तु जगत में, नीच नीच तें नीच।
> तिनतें हूँ अधम अति, फँस्यो मोह के बीच॥

अर्थात्—संसार में नीच से नीच गिनी जाने वाली जितनी वस्तुएँ हैं, उनमें मेरी आत्मा सब से नीच है।

पापोऽहं पापकर्माऽहं, पापात्मा पापसम्भव।

अर्थात्—हे प्रभो! मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ और जिन पापों को मैं बार-बार धिक्कारता हूँ उन्हीं पापों को पुनः करने वाला हूँ। इससे बढ़कर पतितदशा और क्या हो सकती है?

इस संसार में अनेक महात्मा भी ऐसे हैं जो अपने विषय में ऐसा ही अनुभव करते हैं। उनकी विचारधारा कुछ ऐसी

कि मेरे पाप या दोष मैं और परमात्मा ही क्यों जानें ? अपने पापों की प्रकटता यहीं तक सीमित क्यों रहे ? दूसरे लोगों को भी मेरे पापों का पता क्यों न चल जाय ? मेरा नग्नस्वरूप जगत् क्यों न देखे ? इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर गुरु आदि के समक्ष अपने दोष निवेदन करना गर्हा कहलाता है। अपने दोषों की आप ही निन्दा करना निन्दा है, चाहे दूसरा कोई छद्मस्थ जाने या न जाने। मगर गर्हा तो दूसरों के सामने अपने दोष प्रकट करने के लिए ही की जाती है।

इस भेद को देखते हुए गर्हा का फल निंदा के फल से अधिक होना चाहिए। गर्हा का फल अधिक न हो तो उसके करने से लाभ ही क्या है ? फल का विचार किये बिना मन्द पुरुष भी किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता। अतएव गर्हा का फल निन्दा की अपेक्षा अधिक ही होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—गर्हा करने से अपुरस्कारभाव उत्पन्न होता है। किसी व्यक्ति की प्रशंसा होना—जैसे यह उत्तम पुरुष है, यह गुणवान् पुरुष है आदि कहना—पुरस्कारभाव कहलाता है। अपुरस्कार में इस प्रकार के पुरस्कार का अभाव है। 'अपुरस्कार' शब्द में 'अ' अभाव का सूचक है। गर्हा करने से अपुरस्कारभाव प्रकट होता है। पहलपहल तो ऐसा भय बना रहता था कि कोई मेरा अपराध जान लेगा तो मुझे तुच्छ समझकर मेरी निन्दा करेगा। किन्तु जब गर्हा करने का विचार आता है तो वह भय जाता रहता है। उस समय व्यक्ति की यही इच्छा होती है कि लोग मुझे प्रशंसनीय न मानें वरन् निंदनीय समझें। इसी फल की प्राप्ति के लिए गर्हा की जाती है। अर्थात् लोगों की दृष्टि में अपने को निन्दनीय मानने के लिए गर्हा की जाती है।

कहा जा सकता है कि यह तो गर्हा का उलटा फल मिला। गर्हा करने से तो उलटी अधिक निंदा हुई ! गर्हा करने से यदि निंदा होती है और शास्त्रकार भी गर्हा का फल अपुरस्कार बतलाते हैं तो गर्हा करने से लाभ के बदले हानि ही समझना चाहिए। अपमान से बचने के लिए लोग बड़े बड़े पाप करते हैं, तो फिर अधिक निन्दा करने के लिए गर्हा क्यों की जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है। वास्तव में बड़े-बड़े पाप निन्दा से बचने के लिए ही किये जाते हैं। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि कई एक मत मतान्तर भी अपने पापों को पुण्य प्रमाणित करने के लिए चल रहे हैं अथवा इसीलिए चलाये गये हैं कि उनके चलाने वाले निन्दा से बच जाएँ। अर्थात् अपने पाप दबाने के लिए या उन पर पुण्य का पालिश चढ़ाने के लिए ही अनेक मत मतान्तर चलाये गये हैं। बात खराब है, यह जानते हुए भी उसे न छोड़ना फिर भी जनता में अपना स्थान उच्च बनाये रखना, इस उद्देश्य से पाप को धर्म का रूप दिया जाता है और उसी को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। देखा जाता है कि लोग अपनी भलमनसाई प्रकट करने के लिए और अपनी गरीबी दबाने के लिए नकली मोती या रोल्डगोल्ड की माला पहन लेते हैं। इस पद्धति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग सम्मान चाहते हैं। इस प्रकार सम्मानलाभ की भावना से ही पाप को पुण्य का रूप दिया जाता है और पाप को धार्मिकसिद्धान्त के आसन पर आसीन कर दिया जाता है। किन्तु गर्हा करने वाला व्यक्ति इस प्रकार की भावना का परित्याग कर देता है और अपुरस्कारभाव धारण करता है। जो सम्मान की कामना से ऊपर उठ चुका है और अपमान का जिसे भय नहीं है, बल्कि जो अपमान चाहता है, वही व्यक्ति गर्हा कर सकता है।

प्राय देखा जाता है कि लोग निन्दनीय कार्य तो कर बैठते हैं मगर निन्दा सुनने से डरते हैं और निन्दा सुनने के लिए तैयार नहीं होते। शास्त्र कहता है—जब किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में यह भावना उद्भूत होती है कि मैंने जो निन्दनीय कार्य किये हैं, उनके कारण होने वाली निन्दा मैं सुन लूं, तब वह गर्हा किये बिना नहीं रहता और जब वह इस तरह शुद्ध भाव से गर्हा करता है तब गर्हा से उत्पन्न होने वाले अपुरस्कारभाव द्वारा वह अप्रशस्त योग से निवृत्त हो जाता है।

शूली पर चढ़कर, शस्त्राघात सहन करके या विषपान करके मर जाना कदाचित् सरल है, परन्तु शान्तभाव से अपनी निन्दा सुनना सरल नहीं है। अपनी निन्दा सुनकर अशुभ योग का आ जाना बहुत सम्भव है। मगर अपनी निन्दा सुन लेने वाला और जिन कामों की बदौलत निन्दा हुई है, उनका त्याग कर देने वाला अपने अन्तःकरण में अशुभ योग नहीं आने देता। इसका फल यह होता है कि वह अप्रशस्त योग से निकलकर प्रशस्त योग में प्रविष्ट हो जाता है।

संसार में विरले ही ऐसे पुरुष मिलेंगे जो अपनी निन्दा सुनने के लिए तैयार हों। अधिकांश लोग ऐसे ही हैं जो चाहते हैं कि हम खराब कृत्य भले ही करें किन्तु हमें कोई खराब न कह पावे। यह दुर्भावना आत्मा के लिए विष के समान है। इस विष से आत्मा में अधिक बुराइयाँ आ घुसती हैं। इससे विपरीत जिनकी भावना यह है कि मुझे प्रशंसा नहीं चाहिए, निन्दा ही चाहिए, वे लोग गर्हा किये बिना नहीं रहते। गर्हा करने वालों में अपुरस्कारभाव आता है और अपुरस्कारभाव आने से पापों का नाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा जब अपुरस्कारभाव को अपनाती है तब वह अप्रशस्त योग से छूटकर प्रशस्त योग प्राप्त करती है।

अप्रशस्त योग में से निकलकर प्रशस्त योग में प्रवेश करना मामूली बात नहीं है। धूल के रुपये बनाये जा सकते हैं, मगर अप्रशस्त को प्रशस्त बनाना उससे भी कहीं कठिन काम है। आपने बाजीगरों को धूल से रुपया बनाते देखा होगा। यह तो सिर्फ हस्त कौशल है। अगर वह धूल से रुपया बना सकते तो पैसे-पैसे के लिए क्यों भीख माँगते फिरते? यह वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर भी बहुतेरे लोग ऐसी बातों में चमत्कार मानते हैं और कहते हैं कि चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता है। इस भावना से प्रेरित होकर लोग ढोंग को भी चमत्कार मानने लगते हैं और इस प्रकार के ढोंग के पीछे लोग और विशेषतः स्त्रियाँ पागल बन जाती हैं। इस प्रकार अन्ध होकर ढोंग के पीछे दौड़ने का अर्थ यह है कि अभी तक परमात्मा के प्रति पूर्ण और दृढ़ विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ है। परमात्मा के प्रति सुदृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाने पर यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती।

आशय यह है कि लोग इस प्रकार ढोंग में तो पड़ जाते हैं किन्तु अपनी आत्मा को नहीं देखते कि हमारी आत्मा में क्या है? भक्तजन यह बात ध्यान में रखकर ही यह कहते हैं—

रे चेतन! पोते तू पापी, पर ना छिद्र निहारेछो।

भक्तजनों ने अपनी आत्मा को यह चेतावनी दी है—हे आत्मन्! तेरे पापों का पार नहीं है। फिर भी तू अपने पाप न देख कर दूसरों की बातों में क्यों पड़ता है? तेरे पात्र में मलीन जल भरा है, उसे तो तू साफ नहीं करता और दूसरों से कहता फिरता है कि लाओ, मैं तुम्हारा पानी साफ कर दूँ! यह कथन क्या युक्तिसंगत कहा जा सकता है? भक्तजन सबसे पहले अपने पर ही विचार करते हैं, अतएव वह कहते हैं—

मो सम पतित न और गुसाईं ।
अवगुण मोसों अजहु न छूटें, भली तजी अब ताई ।
मोह्यो जहीं कनक कामिनी, न ममता मोह बढ़ाइ ।
रसना स्वाद मान ज्यों उलझी, सुलझत नहिं सुलझाइ ।
मो सम पतित न और गुसाईं ॥

अर्थात्—प्रभो ! मुझसा पतित और कौन होगा ? मैं गुणों का त्याग कर देता हूँ पर अवगुणों का तो आज तक त्याग नहीं किया।

जिसमें भक्तजनों के समान ऐसी भावना होगी वह अपने पाप अवश्य नष्ट कर डालता। वास्तव में जो इस उच्च भावना का धनी है वह बड़ा भाग्यशाली है। शास्त्रकार ऐसे भाग्यशाली को इसीलिए कहते हैं कि पुरस्कारभावना से निकलकर अपुरस्कार-भावना में आने के लिए गर्हा करो और गर्हा करके अपुरस्कार भावना में आओ।

भक्तजनों का कथन है—"प्रभो ! मैं भलीभाँति जानता हूँ कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र अथवा साधु अवस्था हितकर है और क्रोध आदि विकार अहितकर हैं। फिर भी मैं साधु पन अंगीकार नहीं करता और क्रोध करता हूँ। यह मेरी कैसी विप रीत दशा है ! ऐसी दशा में मुझ जैसा पतित और कौन होगा ?

अगर साधुपन तुमसे नहीं ग्रहण किया जाता तो कम से कम क्रोध को तो मारो। श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है —

कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं ।

अर्थात्—क्रोध को असत्य करो अर्थात् क्रोध को पी जाओ और अप्रिय को भी प्रिय धारण करो। क्रोध किस प्रकार असत्य

किया जा सकता है, इसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है। वह इस प्रकार है—

एक क्षत्रिय को किसी दूसरे क्षत्रिय ने मार डाला। मरे गये क्षत्रिय की पत्नी गर्भवती थी। गर्भस्थित बालक [illegible] जन्मने के बाद बड़ा होकर वह ऐसा वीर निकला कि राजा भी उसका सम्मान करने लगा। एक बार वह किसी युद्ध में विजय प्राप्त करके आया। राजा और प्रजा के द्वारा अपूर्व सम्मान पाकर वह घर गया। रास्ते में वह सोचता जाता था कि सब लोगों ने मेरा सम्मान किया है, मगर मैं अपने को सच्चा सम्माननीय तभी मानूँगा जब मेरी माता भी मेरे कार्य को अच्छा समझेगी और मुझे आशीर्वाद देगी। मुझे दुनिया में जो सम्मान प्राप्त हो रहा है, वह सब माता की ही कृपा का फल है।

इस प्रकार सोचता हुआ वह अपनी माता के पास पहुँचा। उस पर नजर पड़ते ही माता ने अपना मुँह फेर लिया। यह देखकर वह सोचने लगा—मेरी माँ मेरी ओर दृष्टिपात भी नहीं करना चाहती! मुझे धिक्कार है! तदनन्तर उसने माँ से कहा—'माँ, इस बालक से क्या अपराध बन गया है कि आप इसकी ओर देखना भी नहीं चाहतीं।'

माता बोली—बेटा, तुम्हारा असली शत्रु तो अभी तक जीवित है। जब तक उसे न जीत लिया जाय, तब तक मुझे प्रसन्नता कैसे हो सकती है?

पुत्र ने कहा—आपका कहना सच है। मगर वह है कौन जो मेरा सच्चा शत्रु है?

माता—पिता का घात करने वाले से बड़ा शत्रु और कौन हो सकता है ?

पुत्र—सचमुच ऐसा घोर कृत्य करने वाला महान् अपराधी है। आप यह बतलाइए कि कौन मेरे पिता का घातक है ?

माता ने नाम बतला दिया। पुत्र ने कहा—ऐसा था तो आपने अभी तक मुझसे कहा क्यों नहीं ?

माता—जहाँ तक तुम्हारा पराक्रम पूर्णरूप से विकसित नहीं हुआ था, तब तक तुम्हें शत्रु कैसे बतलाती ?

पुत्र—ठीक है। मैं जाता हूँ और शत्रु को वश में कर लाता हूँ। जब तक मैं उस वश में न कर लूंगा, अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा।

पुत्र अपने पिता के घातक के पास जाने को उद्यत हुआ। उस घातक को भी पता चल गया कि वह मुझे मारने आ रहा है। उसने सोचा—वह वीर है और क्रुद्ध होकर आ रहा है। ऐसी हालत में मुझे मार डाले बिना नहीं रहेगा। इस प्रकार विचार कर वह क्षत्रियपुत्र के सामने आया और उसके पैरों में पड़ गया। क्षत्रिय कुमार ने कहा—तू मेरा शत्रु है, क्यों मेरे पैरों में पड़ता है ? वह क्षत्रिय गिड़गिड़ाकर कहने लगा—मैंने आपके पिता का घात अवश्य किया है, फिर भी मैं आपके शरण आया हूँ।

क्षत्रिय शरणागत को नहीं मारता। इस सम्बन्ध में मेवाड़ में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। मुगल बादशाह मेवाड़ के महाराणा का शत्रु था। किन्तु जब महाराणा बादशाह को मारने लगे तो बादशाह बोला—'मैं आपकी गाय हूँ।' बादशाह के मुख से यह दीनतापूर्ण शब्द सुनकर राणा ने उसे छोड़ दिया। दूसरे लोगों ने राणा से

कहा—आप यह उचित नहीं कर रहे हैं। किन्तु राजा ने उन्हें उत्तर दिया—शत्रुओं का संहार करने वाले तो बहुत मिलेंगे मगर शरणागत शत्रु की रक्षा करने वाले विरल ही होंगे। शरणागतों की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। मैं इस धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता।

शरणागत क्षत्रिय ने, क्षत्रियकुमार से कहा—'मैं आपके शरण आया हूँ।' यह शब्द सुनकर क्षत्रियकुमार उसे मार न सका। उसे उसने बाँध लिया और अपनी माता के पास ले आया। आकर माता से कहा—लो, यह मेरा शत्रु है। कहो, इसे क्या दण्ड दिया जाय? अपने पुत्र का पराक्रम देख माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—इसी से पूछ देखना चाहिए कि यह क्या दण्ड पसन्द करता है।

इस प्रकार कहकर माता ने अपने पति के घातक क्षत्रिय से पूछा—बोल, तुझे क्या दण्ड मिलना चाहिए? क्षत्रिय ने उत्तर दिया—माँ, शरणागत को जो दण्ड देना उचित हो, वही दण्ड मुझे दीजिए।

यह उत्तर सुनकर माता ने कहा—बेटा, अब इसे मत मारो। इसने मुझे माँ कहा है। अब यह मेरा बेटा और तेरा भाई बन गया है। यह शरणागत है। अब इसे छोड़ दे। मैं जल्दी भोजन बनाती हूँ सो तुम दोनों भाई साथ बैठकर भोजन करो।

पुत्र ने कहा—माँ, तुमने मुझे उत्तेजित किया है। मेरा क्रोध भड़का हुआ है। वह शान्त होना नहीं चाहता। अब मैं अपने क्रोध को किस प्रकार सफल करूँ?

माता ने उत्तर दिया—क्रोध को सफल करने में कोई वीरता नहीं है। सच्ची वीरता तो क्रोध को जीतने में है। दूसरे पर विजय

प्राप्त करना उतनी बड़ी वीरता नहीं, जितनी क्रोध पर विजय प्राप्त करना वीरता है। इसलिए तू क्रोध को जीत।

क्षत्रियकुमार ने उस क्षत्रिय से कहा—मैं अपनी माता का आदेश मानकर तुझे छोड़ता हूँ और अभयदान देता हूँ।

जो स्वयं निर्भय है वही दूसरे को अभयदान दे सकता है। अभयदान यद्यपि सब दानों में उत्तम माना गया है मगर उसका अधिकारी वही है जो स्वयं अभय है। जो स्वयं भय से काँप रहा हो वह दूसरे को क्या खाक अभयदान दे सकेगा? तुम लोग स्वयं तो भय से थर्राते हो और बकरों को अभयदान देने दौड़ते हो! इसमें करुणाभाव तो है, मगर यह पूर्ण अभयदान नहीं है। तुम पहले स्वयं निर्भय बनो फिर अभयदान देने के योग्य बन सकोगे।

क्षत्रियकुमार की माता ने भोजन बनाया। क्षत्रियकुमार ने और उसके पिता का घात करने वाले क्षत्रिय ने साथ बैठकर भोजन किया। कदाचित् क्षत्रियकुमार उसे मार डालता तो अधिक वैर बढ़ता और वैर की यह परम्परा कौन जाने कहाँ तक चलती और कब समाप्त होती। किन्तु क्रोध पर विजय प्राप्त करने से दोनों क्षत्रिय भाई भाई हो गये।

तुम प्रवचन को माता मानते हो। तो जैसे क्षत्रियकुमार ने माता की आज्ञा शिरोधार्य की थी, उसी प्रकार तुम भी प्रवचन माता की बात मानोगे या नहीं? प्रवचनमाता का आदेश यही है कि क्रोध को जीतो और निर्भय बनो। छुरा लेकर मारने के लिए कोई आवे तो भी तुम भयभीत मत बनो। कामदेव श्रावक पर पिशाच ने तलवार का घाव करना चाहा था, फिर भी कामदेव निर्भय ही रहा। तुम धनवान् होने का बहाना करके छूटने का प्रयत्न नहीं कर सकते,

क्योंकि कामदेव गरीब श्रावक नहीं था। वह अठारह करोड़ मोहरों का स्वामी था, उसके साठ हजार गौएँ थीं। फिर भी वह निर्भय रहा। तुम भी इसी प्रकार निर्भय बनो। निर्भय होने पर तलवार, विष या अग्नि वगैरह कोई भी वस्तु तुम्हारा बाल बांका न कर सकेगी। वास्तव में दूसरी कोई भी वस्तु तुम्हारा बिगाड़ नहीं कर सकती, सिर्फ तुम्हारे भीतर पैठा हुआ भय ही तुम्हारी हानि करता है। अपने आन्तरिक भय को जीतोगे तो अपने को अत्यन्त शक्तिशाली पाओगे।

कहने का आशय यह है कि क्रोध को जीतो और क्षमा धारण करो। साधारण अवस्था में तो सभी क्षमाशील रहते हैं मगर क्रोध भड़कने पर क्षमा रखना ही वास्तव में क्रोध को जीतना कहलाता है। कहावत है—

> जी भी कर बतलावताँ, काना क्रोध न आय।
> आड़ा टेढ़ा बोलतां, खबर खमानी थाय॥

जो निन्दा के भय से डरता नहीं है, वही क्रोध को जीत सकता है। भक्त तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हणे भय अवहेलति मम तरी केसीरान रखविति।

अर्थात्—हे प्रभो! जब मुझमें अपनी निंदा सहन करने की शक्ति आजायगी तभी मैं तुम्हारा सच्चा भक्त समझा जाऊँगा।

इस प्रकार विचार कर भक्तजन निंदा से भयभीत नहीं होते, वरन् निंदा सहन करने के लिए सशक्त और सहनशील बनते हैं। हाँ, वे नवीन निंदनीय कार्य नहीं करते, मगर पहले के निंदनीय कार्यों के कारण होने वाली निन्दा से घबराते नहीं। इस प्रकार जो

निन्दा से नहीं, मगर निन्दायोग्य कार्यों से ही घबराता है, वही अशुभ योग में से निकलकर शुभ योग में प्रवृत्त होता है।

अपने दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना गर्हा है। गर्हा किस प्रकार की होनी चाहिए, इस विषय की व्याख्या स्थानांगसूत्र में की गई है। गर्हा का स्वरूप बतलाते हुए श्रीस्थानांगसूत्र में द्वितीय स्थान में, दो प्रकार की गर्हा बतलाई गई है और तृतीय स्थान में तीन प्रकार की कही गई है। दूसरे स्थान (ठाणा) में कहा है—

दुविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा—मणसावेगे गरिहइ, वयसा वेगे गरिहइ, अहवा दुविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा—दीहमद्धमेगे गरिहइ, रहस्समद्धमेगे गरिहइ ॥

अर्थात्—गर्हा दो प्रकार की है—मन से की जाने वाली गर्हा और वचन से की जाने वाली गर्हा। परन्तु दोनों को साथ करके की जाने वाली गर्हा पूर्ण गर्हा है। अन्यथा गर्हा के चार भंग हो जाते हैं। वह इस प्रकार—

(१) मन से गर्हा करना वचन से न करना

(२) वचन से गर्हा करना मन से न करना

(३) मन से भी गर्हा करना वचन से भी करना

(४) मन से भी गर्हा न करना वचन से भी न करना। (यह भंग शून्य है)

कभी-कभी वचन से तो गर्हा नहीं होती किन्तु मन से गर्हा हो जाती है। जैसे—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि नीची स्थिति में जाने के योग्य विचार कर रहे थे। उसी समय उनका हाथ अपने मस्तक पर

जा पहुँचा। मस्तक पर मुकुट न पाकर उन्होंने मन ही मन ऐसी गर्हा की कि उसी समय केवली हो गये। इस प्रकार एक गर्हा ऐसी होती है जो वचन से तो नहीं होती, सिर्फ मन से होती है। दूसरी गर्हा ऐसी होती है जो मन से नहीं की जाती, सिर्फ वचन से की जाती है। ऐसी गर्हा द्रव्यगर्हा कहलाती है। वचन से न होकर भी मन से होने वाली गर्हा तो ठीक है, मगर मन से गर्हा न करके केवल वचन से कह देना कि 'मुझसे अमुक दुष्कर्म हो गया है' एक प्रकार का दम्भ ही है। मन में जुदा भाव रखना और वचन से गर्हा करना द्रव्यगर्हा है, जो दूसरों को ठगने के लिए की जाती है। दूसरों को ठगने के लिए की जाने वाली द्रव्यगर्हा के अनेक उदाहरण शास्त्रकारों ने बतलाए हैं।

कल्पना कीजिए, कोई पुरुष मर गया है। उसका किसी दूसरी स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध था। जब मृत पुरुष की लाश उस स्त्री के घर के सामने होकर निकली तो वह अपना रुदन न रोक सकी। मगर साधारण रीति से रोए तो लोगों को शंका हो कि यह स्त्री इस पुरुष के लिए क्यों रोई? इसका मृत पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध था? इस प्रकार की निन्दा से बच जाय और रो भी ले, ऐसा उपाय खोजकर उस स्त्री ने अपने हाथ के कड़े नीचे फेंक दिये और 'मेरे कड़े गिर पड़े' यह कहकर जोर जोर से रोने लगी। वास्तव में उसे अपने जार के लिए रोना था, मगर वह कड़ों का बहाना करके रोने लगी। क्या यह कहा जा सकता है कि उसका रुदन कड़ों के लिए है? कड़े तो रोने का बहाना भर थे।

इस प्रकार भीतर कुछ और भाव रखना तथा वचन द्वारा यह प्रकट करना कि 'मुझसे अमुक खराब काम हो गया, इसके लिए मुझे दुःख है,' यह द्रव्यगर्हा है। यह द्रव्यगर्हा ढोंग है

ठगने के लिए की जाती है। पूर्वोक्त चतुर्भंगी में द्रव्यगर्हा दूसरे भग में है।

तीसरे प्रकार की गर्हा मन से भी की जाती है और वचन से भी की जाती है। चौथी गर्हा शून्यरूप है। यह गर्हा न मन से की जाती है, न वचन से ही की जाती है।

इस प्रकार स्थानागसूत्र के दूसरे ठाणे में गर्हा के दो भेद किये गये हैं। एक गर्हा वह जो मन से की जाती है और दूसरी गर्हा वह जो वचन से की जाती है। अथवा पहली गर्हा वह है जो दीर्घ काल के कार्यों की न की जाकर निकटकाल के कार्यों की की जाय, और दूसरी गर्हा वह जो निकटकाल के कार्यों की न की जाकर दीर्घकालीन कार्यों की की जाय। या दीर्घकार्य की गर्हा की जाय और लघु (सामान्य) कार्य की गर्हा न की जाय।

कौनसे कार्य दीर्घ और कौन से लघु हैं, यह वर्गीकरण करना कठिन है। अनुभवी पुरुष ही विशेषरूप से स्पष्टीकरण कर सकते हैं। किन्तु वास्तव में गर्हा सभी पापों की करनी चाहिए, फिर चाहे वह दीर्घकालीन हो या निकटकालीन हो, मोटा पाप हो या छोटा पाप हो।

तीसरे ठाणे में गर्हा के तीन भेद बतलाते हुए कहा गया है–

तिविहे गरिहा पन्नत्ते, तनहा–मणसा, वयसा, कायसा।

अर्थात्–गर्हा तीन प्रकार की है–मन से की जाने वाली, वचन से की जाने वाली और काय से की जाने वाली। अथवा मन द्वारा किये कार्यों की गर्हा करना, वचन द्वारा किये कार्यों की गर्हा करना और काय द्वारा कृत कार्यों की गर्हा करना। यद्यपि गर्हा के

यह तीन भेद बतलाये गये हैं तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि पूर्ण गर्हा वही है जो मन, वचन और काय—तीनों के द्वारा की जाती है। गर्हा करने का उद्देश्य है—

पावाणं कम्माणं अकरणयाए।

अर्थात्—पुन पापकर्म न करने के उद्देश्य से गर्हा की जाती है। इसीलिए पाप का प्रकाशन किया जाता है कि पाप के कारण निन्दा हो और भविष्य में फिर कभी वह पाप न किया जाय। यही गर्हा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब मन, वचन और काय—तीनों योगों से गर्हा की जाय।

तात्पर्य यह है कि भविष्य में पुन पापकर्म में प्रवृत्ति न हो, इस ध्येय की सिद्धि के लिए मन, वचन और काय से—तीनों से—गर्हा करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि पापकर्मों की गर्हा मन से ही कर ली जाय तो काफी है। गुरु आदि के समक्ष गर्हा करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहने वाले से यही कहा जा सकता है कि शास्त्र का वचन अगर प्रमाण मानते हो तो शास्त्र पर विश्वास रखकर शास्त्र के कथनानुसार ही गर्हा करनी चाहिए। अगर तुम्हें शास्त्र पर ही विश्वास नहीं है तो फिर तुमसे कुछ कहना ही वृथा है। शास्त्र में निन्दा और गर्हा के बीच बहुत अन्तर बतलाया गया है। गर्हा लघुता प्रकट करने के लिए की जाती है। अगर कोई मनुष्य ऊपर से लघुता दिखलाता है मगर पाप का त्याग नहीं करता तो कहना चाहिए कि वह वास्तव में लघुता का प्रदर्शन नहीं करता वरन् ढोंग का ही प्रदर्शन करता है। जिसमें सच्ची लघुता होती है वह गर्हा

करते हुए विचार करता है कि मेरी आत्मा ने कैसा नीच कृत्य किया है!

जिस मनुष्य को सवारी के लिए हाथी उपलब्ध है, वह हाथी को छोड़कर यदि गधे पर सवार होता है तो मूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार आत्मा को विचारना चाहिए कि-'हे आत्मन्! तुझे हाथी पर बैठने के समान शरीर मिला है, तथापि तू गधे पर बैठने के समान नीच कृत्य क्या करता है?' इस प्रकार विचार करने से सच्ची गर्हा करने की भावना का उदय होगा और उसी समय आत्मा में लघुता भी आएगी। ज्यों ज्यों आत्मा में लघुता आएगी, त्यों त्यों आत्मा परमात्मा के समीप पहुँचता जायगा।

मैंने जिन ग्रन्थों का अवलोकन किया है, उन सब में प्राय यही कहा गया है कि आत्मा का मूल स्वरूप कैसा है लेकिन वह कैसी स्थिति में आ पड़ा है? आत्मा को कितनी अनुकूल सामग्री उपलब्ध है, लेकिन आत्मा उसका कैसा उपयोग कर रही है! आत्मा का यह कार्य बड़ा ही विपरीत है। राजा ने प्रसन्न होकर किसी को उच्चकोटि की गजवेल की तलवार भेट की। मगर भेट लेने वाला ऐसा मूर्ख निकला कि उस तलवार से घास काटने लगा। क्या उसका यह कार्य तलवार का दुरुपयोग करना नहीं है? इसी प्रकार आत्मा को यह मानव शरीर ऐसा मिला है जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। तीर्थङ्कर अवतार आदि समस्त पुरुष इसी शरीर में हुए हैं। ऐसा उत्कृष्ट शरीर पाकर भी यदि विषयकषाय में इसका उपयोग किया गया तो अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ेगा। जो मनुष्य जन्म का माहात्म्य समझेगा और आत्मकल्याण साधना चाहेगा, वह सच्चे हृदय से गर्हा किये बिना रह ही नहीं सकता।

मेरी ऐसी धारणा है कि यदि मनुष्य अपने सुबह से शाम तक के काम किसी विश्वस्त मनुष्य के समक्ष प्रकट कर दिया करे तो उसके विचारों और कार्यों में बहुत प्रशस्तता आ जायगी। गृहस्थों को और कोई न मिले तो पति पत्नी आपस में ही अपने अपने कार्य एक दूसरे पर प्रकट कर दिया करें तो उन्हें अवश्य लाभ होगा। अपने हृदय प्रकाशित करने से विचारों का आदान प्रदान होता है और दोषों की शुद्धि होने से जीवन उन्नत बनता है।

यही जीवनशुद्धि की कुंजी है। भगवान् ने कहा है कि गर्हा करने से आत्मा पवित्र बनती है। गर्हा से आत्मा किसी भी अवस्था में पतित नहीं होती वरन् उन्नत ही होती है। आत्मा के पतन का कारण शारीरिक मोह है। आत्मा को शारीरिक मोह में फँसा कर गिराना उचित नहीं है। आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न हैं। आत्मा अमर और अविनाशी है, जब कि शरीर नाशवान् है। गीता में भी कहा है—

> न जायते म्रियते वा कदाचित्,
> नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो—
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थात्—शरीर ही जनमता और मरता है। आत्मा न जनमता है, न मरता है। आत्मा तो अजर और अमर है।

जैनशास्त्र की दृष्टि से भी आत्मा अनादिकाल से है। अनन्तकाल व्यतीत हो जाने पर भी आत्मा जैसा का तैसा है। आत्मा नरक में जाकर न मालूम कितनी बार तेतीस सागर का

स्थिति भोग चुका है। फिर भी उसका स्वरूप ज्यों का त्यों है। गीता कहती है आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा ऐसी ज्योति है जो कभी बुझती नहीं। किसी दिन उसका नाश नहीं हुआ, होगा भी नहीं। आत्मा अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है। यद्यपि वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो नित्य होने पर भी आज किसी रूप में हैं और कल किसी और रूप में होंगी। मगर शुद्धसंग्रह नय की दृष्टि से आत्मा सदैव एक स्वभाव में रहता है। इस प्रकार आत्मा शाश्वत है और साथ ही पुरातन अर्थात् सनातन है।

इस सनातन आत्मा को मामूली बात के लिए पतित करना कितनी भयङ्कर भूल है? इस भूल के संशोधन का एक कारगर उपाय गर्हा करना है। सच्ची गर्हा करने से आत्मोन्नति होती ही है, क्योंकि गर्हा आत्मोन्नति और आत्मशुद्धि का प्रधान कारण है। सच्ची गर्हा करने वाला पुरुष आत्मा को कभी पतित नहीं होने देता। चाहे जैसा भयानक संकट आ पड़े, फिर भी आत्मा को पतित न होने देना ही सच्ची गर्हा का अवश्यम्भावी फल है।

राजा हरिश्चन्द्र का राजपाट वगैरह सब चला गया। उसने इन सब चीजों को प्रसन्नतापूर्वक जाने दिया, मगर आत्मा को पतन से बचाने के लिए सत्य न जाने दिया। आखिर उस पर इतना भयंकर संकट आ पड़ा कि एक ओर मृत पुत्र सामने पड़ा है और दूसरी ओर उसकी पत्नी दीन वाणी में कहती है कि पुत्र का संस्कार करना आपका कर्त्तव्य है। यह आपका पुत्र है। आप इसका संस्कार न करेंगे तो कौन करेगा? पत्नी के इस प्रकार कहने पर भी हरिश्चन्द्र ने यही उत्तर दिया कि मेरे पास इसका संस्कार करने की कोई सामग्री नहीं है।

हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा ने कहा—अग्निसंस्कार करने के लिए और क्या सामग्री चाहिए? लकड़ सामने पड़े ही हैं। फिर अग्निसंस्कार करने में विलंब की क्या आवश्यकता है?

हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया—तुम ठीक कहती हो, पर यह लकड़ मेरे नहीं, स्वामी के हैं। स्वामी की आज्ञा है कि कर देने वाले को ही लकड़ियाँ दी जाएँ। अतएव यह लकड़ियाँ बिना मोल नहीं मिल सकतीं।

यह सुनकर तारा बोली—आपका कथन सत्य है, पर आप एक टके का कर किससे माँग रहे हैं? क्या मैं आपकी पत्नी नहीं हूँ? इस समय मेरे पास एक भी टका नहीं है।

राजा ने कहा—रानी! पुत्रवियोग के कारण तुम मोह में पड़ गई हो। तुम अपने ध्येय को भी भूली जा रही हो। विचार करो, तुम कौन हो? तुम एक राज्य की महारानी हो, फिर भी केवल सत्य का पालन करने के लिए ही दूसरे के घर की दासी बनी हो। तुम मुझे स्वामी कहती हो सो मैं पूछता हूँ कि मेरी हड्डियों को स्वामी कहती हो या आत्मा को? तुम भलीभाँति जानती हो कि जो पुरुष एक दिन प्रतापशाली राजा था और जिस ओर नजर फेरता था उसी ओर लक्ष्मी विलास करने लगती थी, वह राजा सत्य के लिए ही दूसरे का दास बना है। जिस सत्य का पालन करने के लिए मैंने और तुमने इतने कष्ट उठाये हैं, क्या आज उसी सत्य का परित्याग कर देना उचित है? अगर मैं कर वसूल किये बिना, स्वामी की आज्ञा के विरुद्ध लकड़ियाँ दे दूँ और पुत्र का अग्निसंस्कार कर डालूँ तो सत्य का विघात होगा या नहीं?

राजा हरिश्चन्द्र का यह सत्याग्रह सच्चे आग्रह का स्वरूप स्पष्ट करता है। आप तुम्हें भी विचार करना चाहिए कि सत्य का

पालन करने के लिए कितना त्याग सीखने की आवश्यकता है! नाशशील शरीर के लिए तो थोड़ा बहुत त्याग किया जाता है किन्तु अजर अमर आत्मा के लिए तनिक भी त्याग करते नहीं बन पड़ता! यह कितनी भयानक भूल है।

हरिश्चन्द्र का कथन सुनकर रानी बोली—'वास्तव में आपका कहना ठीक है। सत्य का त्याग करना कदापि उचित नहीं है, परन्तु पुत्र का शव यों ही पड़ा रहने देना और उसका सत्कार न करना भी क्या उचित है?'

राजा ने उत्तर दिया—'जो होनहार होगा, होगा। परन्तु शव के सत्कार के लिए सत्य का घात करना उचित नहीं। सत्य सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए सर्वप्रथम सत्य की ही रक्षा करनी चाहिए।'

कतिपय लोग कह देते हैं—'क्या किया जाय, अमुक ऐसा कारण उपस्थित हो गया कि उस समय सत्य का पालन करना अत्यन्त कठिन था। किसी भी युक्ति से उस समय काम निकालना आवश्यक था।' इस प्रकार कहकर लोग सत्य की उपेक्षा करते हैं। किन्तु ज्ञानी जनों का कथन है कि सत्य पर विश्वास रखने से तुम्हारे भीतर अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होगा और उस दशा में तुम्हारा कोई भी कार्य अटका नहीं रहेगा। शास्त्र में कहा ही है—

देवा वि त नमसंति जस्स धम्मे सया मणो।

सत्य का निरन्तर पालन करने से देवता भी तुम्हारी सेवा में उपस्थित होंगे। मगर आज तो यह कहा जाता है—

देव गया द्वारिका, पीर गया मक्का।
अंगरेजों के राज्य में, ढेढ़ मारे धक्का।

अर्थात्—आजकल कलियुग चल रहा है। देव भी न जानें कहाँ विलीन हो गये हैं।

मगर देवों को देखने से पहले अपनी आत्मा को क्यों नहीं देखते ? तुम्हारे हृदय के भाव देखकर ही देव आ सकते हैं। तुम में धर्म होगा तो देव अपने आप आ जाएँगे। अतएव धर्म को अपनाओ—हृदय में धर्म को स्थान दो।

रानी ने राजा से कहा—पुत्र के शव का संस्कार करने का एक उपाय है। उस उपाय से पुत्र के शव का अग्निसंस्कार भी हो जायगा और सत्य की रक्षा भी हो जायगी। राजा के पूछने पर रानी ने उपाय बतलाया—मैंने जो साड़ी पहन रक्खी है, उसमें से आधी साड़ी से अपनी लाज बचा लूँगी और आधी आपको कर के रूप में दे देता हूँ। आप आधी साड़ी लेकर पुत्र का संस्कार कीजिए।

राजा ने यह उपाय स्वीकार किया। कहा—ठीक है, इससे दोनों कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

रानी इस विचार से बड़ी प्रसन्न थी कि इस उपाय से मेरे और मेरे पति के सत्य की रक्षा भी हो जायगी और पुत्र का अग्निसंस्कार भी हो जायगा। रानी में उस समय ऐसा वीररस आया कि वह तत्काल ही अपनी आधी साड़ी फाड़ देने को तैयार हुई।

महारानी तारा तो सत्यधर्म की रक्षा के लिए अपनी आधी साड़ी फाड़ देने को तैयार है पर आप अपने धर्म की रक्षा के लिए और अहिंसा का पालन करने के लिए चर्बी वाले वस्त्र भी नहीं त्याग सकते ! तुम्हें गरीब प्राणियों पर इतनी भी दया नहीं आती ! चर्बी वाले वस्त्र पहनने से उन्हें कितना दुःख सहन करना पड़ता है ? मालूम हुआ है कि यन्त्रवादी लोग गरीब मजदूरों के हित का ध्यान

नहीं रखते। अगर कुछ ध्यान देते भी हैं तो बस उतना ही जिससे उनके स्वार्थ में बाधा न आवे। गरीबों पर दया रखकर वे उनके हित के लिए कुछ भी नहीं करते। प्रायः यन्त्रवादी लोगों में गरीबों के प्रति दया होती ही नहीं। ऐसी दशा में तुम चर्बी वाले मिल के वस्त्र पहनकर गरीबों का दुःख क्या बढ़ाते हो? एक बार मिल के और खादी के कपड़े की तुलना करके देखो तो मालूम होगा कि दोनों में कितना अधिक अन्तर है। यह अन्तर जान लेने के बाद अहिंसा की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से और आर्थिकदृष्टि से खादी अपनाने की इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी।

गरीबों पर दया करने के लिए ही गांधीजी ने अधिक वस्त्र पहनना त्याग दिया है। उन्होंने वस्त्रों की मर्यादा बाँध ली है और मर्यादित वस्त्रों से ही अपना काम चलाते हैं। वस्तुतः इस गरम देश में अधिक वस्त्रों की आवश्यकता भी नहीं है। वस्त्र मुख्यरूप से लज्जा की रक्षा करने के लिए ही हैं। अगर इसी दृष्टि से वस्त्रों का उपयोग किया जाय तो बहुत लाभ होगा। इस देश में यद्यपि थोड़े ही वस्त्रों से काम चल सकता है, फिर भी यहाँ के लोग एक-दूसरे के ऊपर, कम से कम तीन वस्त्र तो प्रायः पहनते ही हैं। तीन से कम वस्त्र पहनना फैशन के खिलाफ समझा जाता है। ठूस ठूस कर पहने हुए वस्त्रों के कारण भले ही पसीना हो और वह भीतर ही सूखकर शरीर को हानि पहुँचाए, मगर तीन से कम वस्त्र पहनना तो फैशन के विरुद्ध ठहरा!

तुम्हें देखना चाहिए कि तुम्हारे गुरु किस प्रकार रहते हैं। हम तुम्हारे बीच में बैठे हैं, इसी कारण लज्जा की रक्षा के लिए हमें वस्त्र ओढ़ना पड़ता है। अगर हम जंगल में जाकर, एकान्त में बैठें तो हमें वस्त्र की आवश्यकता ही न रहे। तुम लोग ऐसे त्यागी

गुरुओं के उपासक होते हुए भी चर्बी लगे वस्त्रों तक का त्याग नहीं कर सकते, यह कितनी अनुचित बात है !

रानी ने वीरता के आवेश में अपनी आधी साड़ी फाड़ डाली। रानी ने अपनी साड़ी क्या फाड़ी, मानो अपने दुःख ही फाड़ कर फैंक दिये। उसकी साड़ी के तार क्या टूटे, मानो उसका अन्तरायकर्म ही टूट गया !

रानी को इस प्रकार साड़ी फाड़ते देखकर राजा को दुःख हुआ। उसने सोचा—मेरी पत्नी के पास एक ही साड़ी थी और वह भी आधी दे देनी पड़ी ! लेकिन दूसरे ही क्षण यह विचार कर प्रसन्नता भी हुई कि ऐसा करने से हमारे सत्य की रक्षा हुई है। अन्त में राजा रानी का कष्ट दूर हुआ और उनके सत्य की रक्षा हुई।

कहने का आशय यह है कि संकट सिर पर आने पर अपने आपको पतित न होने देना चाहिए। सत्यधर्म की ऐसी [illegible] जिसमें होगी, वही सच्चा गर्हा कर सकेगा।

---

(१२)

आठवाँ बोल।

सामायिक

पिछले प्रकरण म गर्हा का विवेचन किया गया है। गर्हा का विषय इतना गम्भीर है कि उसकी विस्तृत व्याख्या करने में महीनों और वर्ष भी लग सकते हैं। मगर इतने अवकाश के अभाव में उसे संक्षेप में ही समाप्त किया गया है। गर्हा के विषय में जो कुछ भी कहा गया है, उसका सार यही है कि बालक अपने माता पिता के सामने जैसे निःसंकोचभाव से सभी बातें कह देता है, उसी प्रकार गुरु आदि के समक्ष अपने समस्त पापों दोषों को निवेदन कर देना चाहिए। यही सच्ची गर्हा है। सच्ची गर्हा करने से अभिमान पर विजय प्राप्त होती है। बारीकी से अपने दोषों का निरीक्षण करने वाला और उन्हें गुरु वगैरह के समक्ष प्रकट कर देने वाला आत्मबली ही अभिमान को जीत सकता है। इस प्रकार अहंकार को जीतने वाला अपनी आत्मा का कल्याण साधन करता है।

समभाव के अभाव में सच्ची गर्हा नहीं हो सकती। अतएव समभाव के विषय में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है —

मूलपाठ

प्रश्न—सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है।

व्याख्यान

यहाँ संक्षेप में सामायिक का फल बतलाया गया है। अन्य ग्रन्थों में इसका बहुत कुछ विस्तार भी पाया जाता है। विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक के विषय में बारह हजार श्लोक लिखे गये हैं।

सामायिक समस्त धर्मक्रियाओं का आधार है। जैसे आकाश सभी के लिए आधारभूत है, चाहे कोई गृह बनाकर गृहाकाश कहे या मठ बनाकर मठाकाश कहे मगर आकाश है सब के लिए आधारभूत, इसी प्रकार सामायिक भी समस्त धार्मिक गुणों का आधार है। सामायिक आधार है और दूसरे गुण सब आधेय हैं। आधार के बिना आधेय टिक नहीं सकता। इस नियम के अनुसार सामायिक के अभाव में अन्य गुण भी नहीं टिक सकते। जैसे पृथ्वी के आधार बिना कोई वस्तु नहीं टिक सकती और आकाश के आधार बिना पृथ्वी नहीं टिक सकती, इसी प्रकार सामायिक का आश्रय पाये बिना दूसरे गुण नहीं टिकते।

'सम' और 'आय' इन दो शब्दों के संयोग से 'सामायिक' शब्द बना है। अर्थात् समभाव का आना ही सामायिक है। अपनी आत्मा जिस दृष्टि से देखी जाती है उसी दृष्टि से दूसरों की आत्मा को देखना समभाव कहलाता है। इस प्रकार का समभाव

नहीं आ सकता, लेकिन अभ्यास करते रहने से जीवन में समभाव का आना कठिन भी नहीं है।

कहा जा सकता है कि—'ऐसा समभाव लेकर बैठें तो पेट भी नहीं भर सकता और आखिर भूखों मर कर प्राण गँवाने पड़ेंगे। संसार-व्यवहार चलाने के लिए छल कपट करना आवश्यक है और जिसमें जितना बल और साहस हो, उसे उतना ही अधिक छल कपट करना चाहिए। ऐसा न करके, समभाव को छाती से चिपटा कर बैठ रहें तो जीवन कष्टमय बन जायगा।'

इस कथन के उत्तर में ज्ञानी जन कहते हैं—समभाव धारण करने से जीवन कष्टमय बनता ही नहीं है। विषमभाव से ही कष्टों की सृष्टि होती है। बहुतसे लोगों की यह मान्यता है कि 'बलीयसी के आगे, वाली नीति रखने से ही जीवन व्यवहार ठीक ठीक चल सकता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषों का कथन इससे विपरीत है। उनके कथनानुसार समभाव धारण करने से ही जीवन व्यवहार भलीभाँति चलता है।

इस प्रकार दोनों प्रकार के लोग अपनी अपनी मान्यता प्रकट करते हैं। इस कारण प्रकृत विषय मतभेद का विषय बन जाता है। मगर तटस्थभाव से विचार करने पर अन्त में यही प्रतीत होता है कि ज्ञानी पुरुषों का कथन ही ठीक है।

इस बात का निर्णय करने के लिए आप यह विचार कीजिए कि दुनिया का काम पढ़े लिखे लोगों से चल रहा है या अपढ़ लोगों से? अगर पढ़े लिखे लोगों से ही काम चलता हो तो दुनिया में पढ़े लिखे अधिक हैं या अपढ़ लोग अधिक हैं? और अगर सभी लोग पढ़ लिख जाएँ तो दुनिया का काम ठीक तरह चल सकेगा? नहीं,

तो क्या पढ़ना बुरी बात है? दुनिया में अपढ़ अधिक हैं और अपढ़ों द्वारा ही दुनिया का काम चलता है, ऐसा विचार करके क्या कोई पढ़ना छोड़ देता है? संसार में गरीबों की संख्या ज्यादा है, इस विचार से क्या कोई अपने पास का पैसा फैंक देता है? रोगियों की संख्या अधिक जानकर कोई स्वयं रोगी बनने की इच्छा करता है?

संसार में रोगी भले ही अधिक हों, लेकिन कोई स्वेच्छा से रोगी नहीं बनना चाहता। कभी रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार दुनिया में विषमभाव भी है। मगर विषमभाव अच्छा है या बुरा? जैसे रोग बुरा है उसी प्रकार विषमभाव बुरा है। विषमभाव रोग के समान है और समभाव आरोग्यता के समान है। विषमभाव का रोग समभाव द्वारा ही मिटता है।

जो लोग कहते हैं कि समभाव से संसार का काम नहीं चल सकता, उन्हें सोचना चाहिए कि जब वे दुधमुँहे बालक थे और अपने आप खा पी नहीं सकते थे, चल फिर भी नहीं सकते थे, तब उनके माता पिता ने उन्हें आत्मतुल्य न मानकर उनकी रक्षा न की होती, तो क्या आज वह जीवित होते? इस प्रकार तुम्हारा जीवन समभाव की कृपा से ही टिका हुआ है। ऐसी दशा में कृतघ्न होकर क्यों कहते हो कि समभाव से काम नहीं चल सकता और विषमभाव से ही काम चल सकता है!

कोई कितना ही क्रूर क्यों न हो, उसमें भी किसी न किसी रूप में, थोड़ा-बहुत मात्रा में, समभाव विद्यमान रहता है और उस समभाव की बदौलत ही उसका तथा उसकी जाति का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ सिंहनी को लीजिए। सिंहनी क्रूर स्वभाव वाली है,

जस्स सामाणिश्रो श्रप्पा, सजमे नियमे तवे ।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिय ॥
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइश्र होइ, इइ केवलिभासिय ॥

इन गाथाओं का आशय यह है कि समभाव से वर्त्तने वाले के ही तप नियम-सयम आदि सफल होते हैं । समभाव के अभाव में तप और नियम आदि सफल नहीं होते । तप करना और दूसरों को कष्ट देना, सयम लिया मगर दूसरों पर हुकूमत चलाई, तो यह तप और सयम समभावविहीन है । तप सयम की सच्ची सफलता सम भाव की विद्यमानता में ही है ।

सामायिक की अवस्था में आक्रमणकारी पर भी क्रोध नहीं आना चाहिए । क्रोध न आवे तो समझ लीजिए कि मैं भगवान् के कथनानुसार समभाव का पालन कर रहा हूँ । इसके विरुद्ध अगर क्रोध भड़क उठता है तो ज्ञानी कहते हैं-अभी तुझमें सयम नहीं आया क्योंकि तू समभाव से दूर है । सयम तो समभावपूर्वक ही होता है । समभाव के अभाव से सयम टिक ही नहीं सकता । इस प्रकार सामायिक करते समय क्रोध भी नहीं करना चाहिए और प्रतिष्ठा मिलने पर अभिमान भी नहीं करना चाहिए । जब कोई नमस्कार करे तो समझना चाहिए कि यह नमस्कार मुझे नहीं, मेरे समभाव का है । अतएव मुझे तो समभाव ही की रक्षा करना चाहिए । अहंभाव, समभाव के विरुद्ध है अतएव अहंभाव का तो त्याग करना ही चाहिए । जब मन में अहंभाव आवे तो समझना चाहिए कि अभी तक मुझमें समभाव नहीं आया है ।

कहने का आशय यह है कि प्रत्येक कार्य में सामायिक की आवश्यकता है अर्थात् समभाव रखने की आवश्यकता है। समभाव के बिना किसी भी कार्य में और किसी भी स्थान पर शान्ति नहीं मिल सकती, फिर भले ही वह कार्य राजनैतिक हो या सामाजिक हो। सामायिक होने पर ही सब कार्यों में शान्ति मिल सकती है। जिसमें समभाव होता है उसका हृदय माता के हृदय के समान बन जाता है। सामायिक करने से अर्थात् समभाव धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा ही है कि समभाव धारण करने से अर्थात् सामायिक करने से सावद्य योग दूर हो जाता है। और जिस सामायिक से सावद्य योग निवृत्त हो जाता है, वही सच्ची और सफल सामायिक है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामायिक करने से जिस सावद्य योग की निवृत्ति होती है, वह सावद्य योग क्या है? इस सम्बन्ध में कहा है—

कम्मं सावज्जं जं गरहियं ति कोहाईयो व चत्तारि।
सह तेहिं जो होउ जोगो पच्चक्खाणं भवइ तस्स॥

इस गाथा में सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका भावार्थ यह है कि निन्दनीय कार्य सावद्य कहलाता है अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को सावद्य योग कहते हैं, क्योंकि समस्त निन्दनीय कर्म कषाय के अधीन होकर ही किये जाते हैं। निन्दनीय कर्मों का कारण कषाय है, अतः कारण में कार्य का उपचार करके कषाय भी सावद्य योग कहा गया है। इस सावद्य के साथ जो व्यापार (प्रवृत्ति) की जाती है, वह सावद्य योग कहलाती है। सावद्य योग का निषेध करना, सावद्य योग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

इस गाथा में आये हुए 'सावज्ज' शब्द का 'सावर्ज्य' भी अर्थ होता है और 'सावद्य' भी। पापयुक्त कार्य सावद्य कहलाता है और गर्हित या निन्दित कार्य 'सावर्ज्य' कहा जाता है।

आर्य की व्याख्या करते हुए एक बार मैंने कहा था—
आरात सकलहेयधर्मेभ्य इति आर्य.।

अर्थात्—समस्त हेय धर्मों—पापकर्मों का त्याग करने वाला आर्य है। जो कार्य आर्य पुरुषों द्वारा त्याग गये हैं अथवा उनके द्वारा जो निन्दित हैं, वे सब कार्य सावद्य हैं। श्रेष्ठ पुरुष कभी निंदित कार्य नहीं करते। जिन कार्यों से जगत् का कल्याण होता है वह श्रेष्ठ कार्य हैं और ससार का अहित करने वाले कार्य निन्दित कर्म हैं। सारा ससार जूआ खेलने लगे तो क्या ससार का अहित नहीं होगा? ऊपर से तो जूआ में अल्प आरम्भ दिखाई देता है परन्तु वास्तव में जूआ खेलना दुनिया के लिए अत्यन्त अहितकर है। इसी कारण शास्त्र में उसे महाप्रमाद कहा है। इसी प्रकार ससार के समस्त मनुष्य अगर चोरी करने लगें तो दुनिया का काम कैसे चल सकता है? क्या उस स्थिति में ससार दुःखों से व्याप्त नहीं हो जायगा? इसी कारण ऐसे कृत्य निन्दित माने गये हैं। इसी तरह के और और कार्य भी सावर्ज्य कार्य हैं। निंद्य कार्य त्याज्य ही हैं। अतएव निन्दित कार्यों का त्याग करके अनिन्दित कार्य करोगे तो समभाव की रक्षा होगी और आत्मकल्याण भी हो सकेगा। समभाव की रक्षा करने से सावद्य योग की निवृत्ति अवश्य होती है। अतएव सावद्य योग से निवृत्त होओ और समभाव की रक्षा करो। इसी में कल्याण है।

सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए आत्मा को किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। एक वस्तु से निवृत्त होने के

लिए दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेना जरूरी है। दूसरी का अव- लम्बन लिए बिना एक से निवृत्त होना कठिन है। उदाहरण— आप लोग शाकाहारी हैं इसलिए मांसाहार से बचे हुए हैं। अगर आपको शाकाहार प्राप्त न होता तो मांसाहार से बचना कठिन था? इस प्रकार दूसरी वस्तु सामने उपस्थित हुए बिना किसी का त्याग नहीं किया जा सकता। यद्यपि उपदेश तो निराहारी बनने का दिया जाता है परन्तु वह अवस्था सहसा प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मांसाहार से बचना आवश्यक है। मांसाहार से बचने का उपाय यही है कि शाकाहार प्रस्तुत हो। शाकाहार का अवलम्बन लेना भी मांसाहार छोड़ने का और धीरे धीरे निराहारी बनने का एक मार्ग है। महारंभी वस्त्र का त्याग करने के लिए अल्पारंभी वस्त्र का आलम्बन लिया ही जाता है। इसी प्रकार जब सावद्य योग से निवृत्त होना हो तो निरवद्ययोग का अवलम्बन लेना आवश्यक हो जाता है। परमात्मा की प्रार्थना करना निरवद्य कार्य है। यह निरवद्य कार्य सावद्य योग का त्याग करने के लिए आल- म्बनभूत है।

सावद्य योग से निवृत्त होने की इच्छा करने वाले को विचार करना चाहिए कि मुझे सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश किसने दिया है? अगर तीर्थङ्कर भगवान ने यह उपदेश न दिया होता तो कौन जाने, सावद्य योग से निवृत्त होने की बात भी सुनाई देती या नहीं? ऐसी अवस्था में जिन्होंने सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश दिया है, उन चौबीस तीर्थङ्करों की प्रार्थना-स्तुति करना आवश्यक है। सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए यह एक मार्ग है। चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का उत्तर अगले बोल में दिया जायगा।

(१३)

नौवाँ बोल।

चतुर्विंशतिस्तव

प्रश्न—चउव्वीसत्थएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चउव्वीसत्थएण दंसणविसोहिं जणयइ ॥९॥

शब्दार्थ

प्रश्न—चौवीस जिनों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चतुर्विंशतिस्तव से दर्शनविशुद्धि होती है।

व्याख्यान

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकरों का स्तव करना, उनकी प्रार्थना करना या उनकी भक्ति करना चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है। चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ? यह प्रश्न पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है।

इस तरह की नामस्थापना को वन्दना भी नहीं कर सकते। हम अभेद निक्षेप को ही वन्दन करते हैं। भेद निक्षेप को हम स्वीकार तो करते हैं किन्तु अर्थक्रिया की सिद्धि तो अभेदनिक्षेप से ही हो सकती है और इसलिए अभेद को ही नमस्कार करते हैं।

अब द्रव्यतीर्थङ्कर की बात लीजिए। जो चौबीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं, वे जब तक केवली नहीं हुए थे, वरन राज्य अवस्था में थे, तब तक द्रव्यतीर्थङ्कर थे। ऐसे द्रव्यतीर्थङ्करों का स्तवन करना द्रव्यस्तवन है। हम द्रव्यतीर्थङ्कर को नमस्कार नहीं करते और न उनका स्तवन ही करते हैं, किन्तु जब उनमें तीर्थङ्कर के योग्य गुण प्रकट हो जाते हैं तभी उन्हें नमस्कार करते हैं और तभी उनका स्तवन करते हैं।

तीर्थङ्करों को किस प्रयोजन से नमस्कार किया जाता है अथवा उनका स्तवन किस लिए किया जाता है, यह बात प्रतिक्रमण में बोली ही जाती है—

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्स, चउवीसं पि केवली॥

अर्थात्—चौबीस तीर्थङ्कर भगवान् लोक में उद्योत करने वाले हैं, मैं उनका स्तवन करता हूँ। ऐसा होने पर भी जब तक प्रकाश नहीं होता तब तक वह वस्तु दिखाई नहीं देती। प्रकाश होने पर ही वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है। भगवान् पचास्तिकाय रूप लोक को प्रकाशित करने वाले हैं। हम लोग भगवान् के ज्ञान प्रकाश से ही पचास्तिकाय को जान पाते हैं।

श्रीभगवतीसूत्र में मद्दुक श्रावक का प्रकरण आता है। उसमें कहा गया है कि मद्दुक श्रावक को कालोदधि ने पूछा था—

'तुम्हारे भगवान् महावीर पचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमें से चार को अरूपी और एक पुद्गल को रूपी कहते हैं। लेकिन अरूपी क्या तुम्हें दिखाई देता है?' मद्दुक श्रावक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—'हम अरूपी को नहीं देख सकते।'

कालोदधि—जिस वस्तु को तुम देख नहीं सकते, उस पर श्रद्धा करना और उसे मानना कोरा पाखंड नहीं तो क्या है?

मद्दुक—हे देवानुप्रिय! तुम्हारे कथन का आशय यह हुआ कि जो वस्तु देखी जा सके उसे ही मानना चाहिए, जो न देखी जा सके उसे नहीं मानना चाहिए। किन्तु मैं पूछता हूँ कि पवन, गन्ध और शब्द को तुम आँखों से देख सकते हो? समुद्र को एक किनारे पर खड़े होकर दूसरा किनारा देख सकते हो? अगर नहीं, तो क्या पवन, गन्ध, शब्द और दूसरे किनारे को नहीं मानना चाहिए? तुम्हारा पक्ष तो यही है कि जो वस्तु देखी न जा सके उसे मानना ही नहीं चाहिए।

मद्दुक का यह युक्तिवाद सुनकर कालोदधि प्रभावित हुआ। वह सोचने लगा—भगवान् महावीर के गृहस्थ शिष्य इतने कुशल हैं तो स्वयं भगवान् कैसे होंगे?

मंदुक श्रावक जब भगवान् महावीर के पास आया तब भगवान् ने उससे कहा—'हे मद्दुक! तूने कालोदधि को ऐसा उत्तर दिया था?'

मद्दुक बोला—हाँ भगवन्! मैंने यही उत्तर दिया था। मेरे उत्तर को आप अपने ज्ञान से जानते ही हैं।

भगवान् ने कहा—हे मद्दुक! तूने कालोदधि को समीचीन उत्तर दिया था। यदि तुम कहते कि मैं धर्मास्तिकाय देखता हूँ, तो

तुम अनन्त अरिहन्तों की अवहेलना करते। मगर तुमने जो उत्तर दिया, वह समीचीन है।

लोक व्यवहार में भी अनुमान को प्रमाण मानना पड़ता है। अनुमान को प्रमाण माने बिना व्यवहार में भी काम नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में धर्म के विषय में अनुमान प्रमाण क्यों न माना जाय? नदी को देखकर प्रत्येक मनुष्य उसके उद्गम स्थान का अन्दाज लगाता है। आप सिर्फ नदी देख रहे हैं, उसका उद्गम स्थान आपको दिखाई नहीं देता, फिर भी नदी देखने से उसका उद्गमस्थान मानना ही पड़ता है। इसी प्रकार एक भाग को देखने से दूसरा भाग भी मानना पड़ता है। इसी न्याय से सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है उसे भी सत्य मानना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवान् ने अपने ज्ञान प्रकाश द्वारा देखकर ही प्रत्येक भाव का प्ररूपण किया है, इसी कारण कहा गया है कि जो भगवान् तीन लोक में उद्योत करने वाले हैं उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। इसी तरह जो अरिहन्त भगवान् धर्म की स्थापना करते हैं, उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे अरिहन्त भगवान चौबीस हैं और वे सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी हैं।

चौबीस तीर्थङ्करों का स्तवन तो बहुतसे लोग करते हैं, किन्तु स्तवन के गुण भलीभाँति समझकर स्तवन किया जाय तो सब प्रकार की शंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं। चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। इस कथन का आशय यह है कि चौबीस तीर्थङ्करों का स्तवन करने से स्तवन करने वाले का सम्यक्त्व इतना निर्मल हो जाता है कि देवता भी उसे सम्यक्त्व से विचलित नहीं कर सकते। अर्थात् उसका दर्शन अत्यन्त निर्मल

और प्रगाढ़ हो जाता है। दर्शन की विशुद्धि करने के लिए चौबीस तीर्थङ्करों का स्तवन निरंतर करते रहना चाहिए। कदाचित् स्तवन का फल प्रत्यक्ष या तत्काल दृष्टिगोचर न हो तो भी उसी प्रकार स्तवन करते रहना चाहिए। दवा का फल प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता फिर भी वैद्य पर विश्वास करके रोगी उसका सेवन करता रहता है और आगे चलकर दवा अपना गुण प्रकट करती है, इसी प्रकार भगवान् के कथन पर विश्वास रखकर तीर्थङ्करों का स्तवन करते रहोगे तो दर्शन की प्राप्ति अवश्य होगी। मोह और मिथ्यात्व का अवश्य ही विनाश होगा। शास्त्र में कहा है —

सद्धा परम दुल्लहा।

अर्थात्—श्रद्धा बहुत दुर्लभ है।

यह कथन उस श्रद्धा के विषय में है, जो श्रद्धा 'जीवित' होती है। जैसे मुर्दा मनुष्य किसी काम का नहीं समझा जाता, उसी प्रकार मरी हुई श्रद्धा भी किसी काम की नहीं होती। अगर किसी मनुष्य में मुर्दापन आता दिखाई देता है तो उसे दवा देकर स्वस्थ किया जाता है, इसी प्रकार अगर आपकी श्रद्धा में मुर्दापन आ रहा हो तो उसे भी चौबीस जिनों की स्तुति द्वारा जीवित बनाओ। ऐसा करने से श्रद्धा गुण की प्राप्ति होगी। अतएव चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने में धीरता और वीरता रक्खो। उदासीनता का त्याग करो।

आपने युधिष्ठिर की कथा सुनी होगी। युधिष्ठिर में उदासीनता आ गई थी। अगर उनमें उदासीनता रह गई होती तो अर्थक्रिया की सिद्धि न हो सकती। भीष्म ने उस समय युधिष्ठिर से कहा—यह अवसर उदासीनता दूर करके अर्थक्रिया सिद्ध करने का है, अतः घबराओ मत। तुमने अनेक लोगों को मारा है, फिर भी

घबराने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस समय तुम्हारे ऊपर कार्य सिद्धि करने का उत्तरदायित्व आ पड़ा है। जो हार गया या मारा गया वह तो गया ही, परन्तु जो जीता है या जो जीवित है उसके सिर गम्भीर उत्तरदायित्व आ पड़ा है। जो मर गये वे तो गये ही, किन्तु उनके पीछे जो लोग बचे हैं उनकी रक्षा का भार विजेता के कन्धों पर आ पड़ता है। जो विजेता व्यक्ति मृत पुरुषों के पीछे रह हुए लोगों की सार सँभाल नहीं रखता, वह पतित हो जाता है। तुम विजयी हुए हो अतः बचे हुए लोगों की सार सम्भाल का भार तुम्हारे जिम्मे है। तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण भारतवर्ष का भार है। अतः तुम्हारे जो शत्रु मारे गये हैं उनके पत्नी पुत्र आदि के प्रति वैरभाव न रखते हुए उन्हें सान्त्वना दो—शान्ति पहुँचाओ, जिससे वह लोग दुर्योधन को भूल जाएँ।

हे युधिष्ठिर! राजा चाहे तो अपना भी कल्याण कर सकता है और दूसरों का भी कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार वह दोनों का अकल्याण भी कर सकता है। मगर अपना और दूसरों का कल्याण करने वाले राजा उंगलियों पर गिनने योग्य ही होते हैं। अधिकांश राजा तो प्रजा को ऐसी उलटी ही शिक्षा देते हैं, जिससे प्रजा निर्बल बन जाती है और राजा के अनुचित कार्य के विरुद्ध बोलने की हिम्मत भी नहीं कर सकती। जो विचारशील राजा सोचता है कि अन्त में मुझे भी मरण शरण होना है तो क्यों न मैं अपना और दूसरों का कल्याण करूँ, वही राजा, प्रजा को अच्छी शिक्षा देगा। वह प्रजा को निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा हर्गिज न देगा।

हे युधिष्ठिर! दुर्योधन की कुशिक्षा का हमारे ऊपर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव था कि यह बात अब हमारी समझ में आई है। हम

उनके पापों को देखते थे, जानते थे, पर हममें इतना साहस ही नहीं था कि उसके विरुद्ध जोश खोल सकते! इसका प्रधान कारण यही था कि हमें निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध जबान नहीं खोलना चाहिए।

आप लोग 'विरुद्धरज्जाइक्कमे' पाठ का अर्थ समझते हैं? अगर आप इस शब्द का यह अर्थ समझते हों कि 'राजा के विरुद्ध कुछ न करना' तो आपको धर्म का त्याग कर देने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। कल्पना करो, राजा ने प्रत्येक को अनिवार्य रूप से शराब पीने का कानून बनाया। अब आप राजा के बनाये इस कानून को मानेंगे? अगर कहो कि राजा की ऐसी आज्ञा नहीं माननी चाहिए, तो जो काम शराब पीने से भी अधिक हानिकारक हैं, ऐसे कामों के लिए राजा के विरुद्ध कुछ न बोलने की बात कहना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है? राजा के विरुद्ध न बोलना या राजा के विरुद्ध काम न करना 'विरुद्धरज्जाइक्कमे' का अर्थ नहीं है। इस पाठ का अर्थ यह है कि राज्य अर्थात् सुव्यवस्था के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए। राजा के विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए, यह भ्रमपूर्ण अर्थ समझ बैठने के कारण ही आप में कायरता आ गई है।

भीष्म कहते हैं—हे युधिष्ठिर! जिस समय द्रौपदी का वस्त्र खींचा जा रहा था उस समय क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं था कि हम इस कार्य के विरुद्ध आवाज उठाते? मगर हम सब टुकुर टुकुर देखते रहे और द्रौपदी का वस्त्र खींचा जाता रहा! यद्यपि हमें उस समय उस पाप-कार्य का विरोध करना चाहिए था, लेकिन हम प्रकट रूप से कुछ भी न बोल सके। हमारी यह कैसी कायरता थी? दुर्योधन से हमें यही शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध कुछ भी

घबराने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस समय तुम्हारे ऊपर कार्य सिद्धि करने का उत्तरदायित्व आ पड़ा है। जो हार गया या मारा गया वह तो गया ही, परन्तु जो जीता है या जो जीवित है उसके सिर गम्भीर उत्तरदायित्व आ पड़ा है। जो मर गये वे तो गये ही, किन्तु उनके पीछे जो लोग बचे हैं उनकी रक्षा का भार विजेता के कंधों पर आ पड़ता है। जो विजेता व्यक्ति मृत पुरुषों के पीछे रहे हुए लोगों की सार सँभाल नहीं रखता, वह पतित हो जाता है। तुम विजयी हुए हो अतः बचे हुए लोगों की सार-सम्भाल का भार तुम्हारे जिम्मे है। तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण भारतवर्ष का भार है। अब तुम्हारे जो शत्रु मारे गये हैं उनके पत्नी पुत्र आदि के प्रति वैरभाव न रखते हुए उन्हें सान्त्वना दो—शान्ति पहुँचाओ, जिससे वह लोग दुर्योधन को भूल जाएँ।

हे युधिष्ठिर! राजा चाहे तो अपना भी कल्याण कर सकता है और दूसरों का भी कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार वह दोनों का अकल्याण भी कर सकता है। मगर अपना और दूसरों का कल्याण करने वाले राजा उंगलियों पर गिनने योग्य ही होते हैं। अधिकांश राजा तो प्रजा को ऐसी उलटी ही शिक्षा देते हैं, जिससे प्रजा निर्बल बन जाती है और राजा के अनुचित कार्य के विरुद्ध बोलने की हिम्मत भी नहीं कर सकती। जो विचारशील राजा सोचता है कि अन्त में मुझे भी मरण शरण होना है तो क्यों न मैं अपना और दूसरों का कल्याण करूँ, वही राजा, प्रजा को अच्छी शिक्षा देगा। वह प्रजा को निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा हर्गिज़ न देगा।

हे युधिष्ठिर! दुर्योधन की कुशिक्षा का हमारे ऊपर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव था कि यह बात अब हमारी समझ में आई है। हम

उसके पापों को देखते थे, जानते थे, पर हममें इतना साहस ही नहीं था कि उसके विरुद्ध जीभ खोल सकते ! इसका प्रधान कारण यही था कि हमें निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध जबान नहीं खोलना चाहिए।

आप लोग 'विरुद्धरज्जाइक्कम्मे' पाठ का अर्थ समझते हैं ? अगर आप इस शब्द का यह अर्थ समझते हों कि 'राजा के विरुद्ध कुछ न करना' तो आपको धर्म का त्याग कर देने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। कल्पना करो, राजा ने प्रत्येक को अनिवार्य रूप से शराब पीने का कानून बनाया। अब आप राजा के बनाये इस कानून को मानेंगे ? अगर कहो कि राजा की ऐसी आज्ञा नहीं माननी चाहिए, तो जो काम शराब पीने से भी अधिक हानिकारक हैं, ऐसे कामों के लिए राजा के विरुद्ध कुछ न बोलने की बात कहना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है ? राजा के विरुद्ध न बोलना या राजा के विरुद्ध काम न करना 'विरुद्धरज्जाइक्कम्मे' का अर्थ नहीं है। इस पाठ का अर्थ यह है कि राज्य अर्थात् सुव्यवस्था के विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए। राजा के विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए, यह भ्रमपूर्ण अर्थ समझ बैठने के कारण ही आप में कायरता आ गई है।

भीष्म कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! जिस समय द्रौपदी का वस्त्र खींचा जा रहा था उस समय क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं था कि हम इस कार्य के विरुद्ध आवाज उठाते ? मगर हम सब टुकुर टुकुर देखते रहे और द्रौपदी का वस्त्र खींचा जाता रहा ! यद्यपि हमें उस समय उस पाप-कार्य का विरोध करना चाहिए था, लेकिन हम प्रकट रूप से कुछ भी न बोल सके। हमारी यह कैसी कायरता थी ? दुर्योधन से हमें यही शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध कुछ भी

नहीं बोलना चाहिए। इसी शिक्षा के कारण वहाँ उपस्थित लोगों में ऐसी कायरता पैठ गई थी कि सब मौन साधे बैठे रहे। सब लोग अपने अपने मन में सोचते थे कि अनुचित कार्य हो रहा है, मगर दुर्योधन के सामने कौन बोले? हमारे लिए यह कितनी लज्जास्पद बात थी! एक कवि ने कहा है —

नीरक्षीरविवेके हंस ! आलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्य कुलव्रतं पालयिष्यति कः ? ॥

पक्षियों के झुण्ड में एक राजहंस भी था। किसी पुरुष ने इस झुण्ड के सामने दूध और पानी का एक प्याला रक्खा। दूसरे पक्षियों ने उस प्याले में चोंच मारी तो राजहंस ने भी चोंच मारी। लेकिन जब दूसरे पक्षी चुपचाप बैठ रहे तो राजहंस भी चुप हो रहा। यह दृश्य देखकर कवि कहता है—हे राजहंस ! दूध और पानी को अलग अलग करने के अवसर पर भी यदि तू चुप बैठा रहेगा तो तेरे कुलव्रत का पालन कौन करेगा?

कवि की इस उक्ति पर विचार करके आपको समझना चाहिए कि यद्यपि धर्म सिर्फ मेरा ही नहीं—सब का है, फिर भी सब लोग धर्म करें या न करें, किन्तु मुझे तो धर्म का आचरण करने के लिए सदा तैयार रहना ही चाहिए। फारसी की एक कहावत के अनुसार मनुष्य इस कुदरत का बादशाह है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कोई कार्य अनुचित क्यों होना चाहिए?

भीष्म कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे राज्य में इस प्रकार प्रजा को निर्बल बनाने वाली शिक्षा नहीं होनी चाहिए। प्रजा को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह राजा के विरुद्ध भी पुकार कर सके और राजा, प्रजा की पुकार सुनने के लिए तैयार रहे। इसी

र सत्ता का दुरुपयोग नहीं वरन् सदुपयोग होना चाहिए। राज्य
ाकर इतना भी सुधार भी न हुआ तो तुम में और दुर्योधन में क्या
र रहेगा ?'

भीष्म के इस कथन पर आप भी विचार करो। भगवान्
वीर ने जो शिक्षा दी है वह कायरता धारण करने के लिए नहीं
(वीरता प्रकट करने के लिए है। आप इस शिक्षा का उलटा
करके कायरता मत आने दो। वस्तु का विपरीत उपयोग करके
र मत बनो। किसी वीर पुरुष के हाथ में तलवार होती है तो
अपनी भी रक्षा करता है और दूसरे की भी रक्षा करता है।
विरुद्ध कायर के हाथ की तलवार उसकी हानि करती है और
तलवार का भी अपमान करता है। तुम्हें वीर धर्म मिला है। इस
र्म का अर्थ उलटा करके कायरता मत धारण करो। सदैव इस
का ध्यान रक्खो कि वीरधर्म का दुरुपयोग न होने पावे।

१४

दसवाँ बोल ।

वंदना

प्रश्न—वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिण्ण-भावं च णं जणयइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वन्दना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बंध करता है, सुभग, सुस्वर आदि का बंध करता है, सब उसकी आज्ञा मानते हैं और वह दाक्षिण्य को प्राप्त करता है ।

व्याख्यान

चौबीस तीर्थङ्करों की प्रार्थना करने के सम्बन्ध में पहले विवेचन किया जा चुका है । जिनकी प्रार्थना की जाती है, जिनका स्तवन किया जाता है, उन तीर्थंकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार भी करना ही चाहिए । अत यहाँ वन्दना के विषय में कहा जायगा ।

कदाचित् कोई तीर्थंकरों की प्रार्थना न कर सके परन्तु वन्दना तो सभी कर सकते हैं। अतः शास्त्र में वन्दना के फल के विषय में प्रश्न किया गया है।

'वंदि' धातु से वन्दना शब्द बना है। वंदन शब्द का अर्थ अभिवादन करना भी होता है और स्तुति करना भी होता है। वंदना कब करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में यह क्रम है कि सर्वप्रथम सामायिक करना चाहिए अर्थात् पहला सामायिक आवश्यक है, तत्पश्चात् चौबीस जिनस्तवन आवश्यक है और फिर वन्दन आवश्यक है। वंदना करने की भी विधि है। वन्दना किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय पर शास्त्रकारों ने बहुत प्रकाश डाला है। आज तो वन्दना करने की विधि में भी न्यूनता नजर आती है, मगर शास्त्रीय वर्णनों से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में विधिपूर्वक ही वन्दना की जाती थी और इसी कारण वंदना के फल के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया गया है। भगवान् ने वन्दना आवश्यक का बहुत फल प्रकट किया है। वंदना के २५ आवश्यक बतलाये गये हैं। वह पच्चीस आवश्यक कहाँ हैं, इस विषय में कहा है —

दुओ णयं अहाजायं कीयकम्मं बारसावयं होई।
चउ सीरं तिगुत्तं च, दुप्पवेसं एग निक्खमणं॥

वन्दना के पच्चीस आवश्यकों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—दो बार नमन कीर्तिकर्म अर्थात् वन्दना आवश्यक, एक यथाजात आवश्यक, बारह आवर्त्तन आवश्यक, चार मस्तक-नमन के आवश्यक, तीन गुप्ति धारण करना आवश्यक, दो बार गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करना आवश्यक और एक बार गुरु के अभिग्रह में से निकलना आवश्यक। इन पच्चीस आवश्यकों के होने पर ही वन्दना पूर्ण होती है।

यहाँ यह देखना है कि इन पचास आवश्यकों का अर्थ क्या है ? साध्वी या अन्य स्त्री गुरु से सत्ताईस हाथ दूर रहे और शिष्य या अन्य पुरुष साढ़े तीन हाथ दूर रहें, यह गुरु का अभिग्रह क्षेत्र है अगर स्थान का संकोच न हो तो गुरु से पुरुष या शिष्य साढ़े तीन हाथ की और साध्वी या स्त्री सत्ताईस हाथ की दूरी पर रहकर, विनीत भाव से, नीची दृष्टि करके, हाथ में ओघा और मुख पर मुख वस्त्रिका सहित, गुरु को नमस्कार करते हुए 'खमासमणा' का यह पाठ बोलते हैं—

इच्छामि खमासमणो वंदिउं ।

अर्थात्—हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा करता हूँ।

कहा जा सकता है कि जब वन्दन करने की इच्छा है ही तो इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस प्रकार कहने वाले व्यक्ति को गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करना है, अतएव वह गुरु की स्वीकृति चाहता है। अभिग्रह के द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा चार भेद हैं। इन सब का यहाँ वर्णन न करते हुए सिर्फ इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु के क्षेत्र अभिग्रह में प्रवेश करना है, इसी हेतु गुरु की स्वीकृति ली जाती है। गुरु को इच्छापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करने में उद्दंडता होना उचित नहीं है और इसी कारण आचार्य के क्षेत्र अभिग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति ली जाती है। अगर आचार्य अभिग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति देना चाहते होंगे तो वे 'छंदेण' अर्थात् 'जैसी तुम्हारी इच्छा' कहेंगे। अगर वे अभिग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति नहीं देना चाहते होंगे तो 'तिविहेण' कहने का तात्पर्य यह है कि वहीं से मन,वचन और काय से नमस्कार कर लो।

अगर आचार्य छंदेण' कह कर अभिग्रह में प्रवेश कर
स्वीकृति दें तो उस समय बालक के समान अथवा दीक्षा धारण
समय के समान नम्रता धारण करके, हाथ में ओघा) रखकर
मुख पर मुखवस्त्रिका सहित अभिग्रह में 'निस्सही निस्सही' (इ
में मन, वचन, काय से सावद्य योग का त्याग करता हूँ) कहत
गुरु के अभिग्रह में प्रवश करना चाहिए और फिर गुरु के चरर
निकट पहुँच कर बारह प्रकार का आवत्तन करना चाहिए । आ
करते समय 'अहोकाय कायसफासिय' ऐसा बोलते जाना चा
'अहोकायं काय' इसमें छह अक्षर हैं । इन छह अक्षरों में से दं
अक्षरों का एक एक आवर्त्तन होता है । इस प्रकार 'अहोकाय
इन छह अक्षरों के तीन आवत्तन हुए । 'अहोकाय काय' ऐसा बं
हुए आवर्त्तन करना चाहिए और 'सफासिय' शब्द का उच्
करते समय अपने हाथ और मस्तक द्वारा गुरु के चरण का
करना चाहिए ।

'अहोकाय कायसफासिय' का अर्थ है-'हे गुरु महार
आपकी नीची काया अर्थात् चरण को मैं अपनी ऊँची काया अ
मस्तक से स्पर्श करता हूँ।'

आवर्त्तन और चरणस्पर्श करने के पश्चात् इस प्र
कहना चाहिए—

'खमणिज्जो भे ! किलामो अप्पकिलताण बहु सु
भे दिवसो वइक्कतो ।'

अर्थात्—हे पूज्य ! अपनी ऊँची काया द्वारा आपकी
काया का स्पर्श करते समय आपको जो कुछ क्लेश हुआ हो,

यह कैसा सूचना दी गई है ? इस क्षमायाचना से इस रहस्य का ज्ञान होता है कि जब गुरु के चरणस्पर्श करने में भी गुरु को कष्ट न पहुँचने जैसी सूक्ष्म बात का ध्यान रक्खा जाता है तो फिर दूसरे प्रकार का कष्ट न होने देने के विषय में कितना ध्यान रखना चाहिए। जिस घर में एक कौड़ी भी वृथा खर्च नहीं की जाती, उस घर में रुपया पैसा वृथा खर्च कैसे किया जा सकता है ? इसी प्रकार जहाँ चरणस्पर्श करने में भी कष्ट न पहुँचाने का ध्यान रक्खा जाता है और इतनी सूक्ष्म बात के लिए भी क्षमायाचना की जाती है, वहाँ अन्य बातों पर क्या नहीं ध्यान दिया जाता होगा ? मगर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि गुरु को कष्ट होने का विचार करके उनके चरणों का स्पर्श ही न किया जाय। एक कौड़ी भी वृथा खर्च न करना ठीक हो सकता है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर भी खर्च न करना कृपणता है। इसी प्रकार गुरु को कष्ट न हो, इस बात का ध्यान रखना तो उचित है मगर उन्हें कष्ट होने के विचार से चरणों का स्पर्श ही न करना अनुचित है। गुरु को कष्ट हो, इस प्रकार से उनके चरणों का स्पर्श करना यद्यपि अनुचित है, फिर भी चरणस्पर्श किया जाता है और ऐसा करने में किसी अंश में, गुरु को कष्ट पहुँच जाना शक्य और सम्भव है, इसी कारण यह कहा गया है कि—हे गुरु ! आपके चरणों का स्पर्श करने में आपको जो कोई कष्ट हुआ हो, उसके लिए क्षमा कीजिए। आप क्षमासागर हैं, अतः मेरा अपराध भी क्षमा करें।

'अहोकाय कायसंफासिय' इन शब्दों का ह्रस्व दीर्घ रीति से उच्चारण करके चरणस्पर्श करना चाहिए और फिर क्षमायाचना करके गुरु को हाथ जोड़कर, नमस्कार करके इस प्रकार कहना चाहिए —

यहुमुभेण भे ! दिवसो वइक्कन्तो ? जत्ता मे ! जव-णिज्जं च मे !

इस पाठ म देवसी, रायसी, पक्खी चौमासी या सवत्सरी का जो दिन हो, उसका उच्चारण करना चाहिए। इस पाठ का अर्थ यह है-'हे गुरो ! दिवस, रात्रि पक्खी, चौमासा या सवत्सरी का काल आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ ? इस प्रकार गुरु से कुशल प्रश्न पूछना चाहिए। फिर 'जत्ता मे' इतना कहकर पहला आवर्त्तन, 'जवणि' कहकर दूसरा और 'ज्ज च मे' कहकर तीसरा आवर्त्तन करना चाहिए।

इन तीन आवर्त्तनों के समय उच्चारण किये हुए अक्षरों में स 'जत्ता मे' का अर्थ यह है कि—'गुरु महाराज ! मूल गुण और उत्तर गुण रूपी आपकी सयम यात्रा तो आनन्दपूर्वक चलती है न ? 'जवणिज्ज' का अर्थ यह है कि आप इन्द्रियों का और मन का दमन तो बराबर करते हैं न ? 'ज्ज च मे' का आशय यह कि 'हे गुरु ! आपकी सयमयात्रा, आपके इन्द्रियदमन और आपकी यतना को मैं स्वीकार करता हूँ।'

गुरु को आवर्त्तन करने का उद्देश्य क्या है ? किस हेतु से आवर्त्तन करना चाहिए ? इन प्रश्नों का निर्णय करने के लिए यह विचार करना चाहिए कि वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा किस लिए करते हैं ? वर-कन्या जब तक अग्नि की प्रदक्षिणा नहीं करते तब तक वे कुँवारे समझे जाते हैं। अग्नि की प्रदक्षिणा करने के अनन्तर आँखें वाला प्राणों का त्याग कर सकती है पर नियम का भंग नहीं करती। स्त्रियाँ अपनी मर्यादा का इतना ध्यान रखती हैं तो क्या पुरुषों को मर्यादा का पालन नहीं करना चाहिए ?

जैसे पति पत्नी अग्नि की प्रदक्षिणा करके एक दूसरे के धर्म को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार शिष्य भी आवर्त्तन द्वारा वीरता पूर्वक गुरु का धर्म स्वीकार करता है। गुरु का धर्म स्वीकार करने के पश्चात् यह शिष्य यदि गुरु के धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो ही उसका आवर्त्तन और वंदन सच्चा समझो।

कहने का आशय यह है कि गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करते समय दो बार मस्तक झुकाना दो आवश्यक हुए। फिर नवदीक्षित के समान नम्र हो जाना यह एक आवश्यक हुआ। तदन्तर बारह आवर्त्तन करना बारह आवश्यक हैं। इस प्रकार यहाँ तक पन्द्रह आवश्यक हुए। चार बार मस्तक नमाने के चार आवश्यक हुए, तीन गुप्तियों के तीन आवश्यक, दो आवश्यक प्रवेश करते समय के और एक आवश्यक निकलते समय का। इस तरह सब मिलकर पचीस आवश्यक होते हैं।

तीन गुप्ति का अर्थ यह है कि मन, वचन और काय को एकाग्र करके गुरु को वंदना करनी चाहिए। गुरु को वन्दना करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिए कि अनेक जन्म जन्मान्तर में भटकने के बाद मुझे जो मन की प्राप्ति हुई है, उसकी सार्थकता गुरु को वन्दन करने से ही हो सकती है। अतएव मन को खराब कामों में नहीं पिरोना चाहिए। मान लीजिए, किसी मनुष्य को कीमती मोती मिला हो तो क्या वह मामूली मिठाई के बदले उसे दे देगा? अगर नहीं तो जो मन अनेक जन्म-जन्मान्तरों के अनन्तर मिला है, उस मन को खराब कामों में पिरो देना क्या उचित कहा जा सकता है? अनेक विध कठिनाइयाँ झेलने के बाद जो मन मिला है, उसकी कीमत समझकर और मन को एकाग्र करके गुरु को वंदना की जाय तभी मन का पाना सार्थक कहा जा सकता है।

जिस वन्दना का फल यहाँ तक बतलाया गया है कि बँधा हुआ नीच गोत्र कर्म भी वन्दना से क्षीण हो जाता है और उच्च गोत्र का बँध होता है, उस वन्दना के समय भी यदि मन एकाग्र न हुआ तो फिर किस समय होगा? मगर लोग सत्कार्य में मन एकाग्र नहीं करते और यही अधोगति का कारण है।

मन एकाग्र करना ही मन की गुप्ति है, फिर वचन से बहु-मानतापूर्वक श्रेष्ठ अलंकार बोलते हुए गुरु को वंदना करना काय-गुप्ति है।

यह सब पचीस आवश्यक हुए। इन आवश्यकों की रक्षा करके और वंदना के बत्तीस दोष टालकर गुरु को वंदना की जाती है, वही सच्ची वंदना है।

आज वंदना की यह विधि क्वचित् ही दिखाई देती है, अतएव वंदनाविधि जानने की ओर विधिपूर्वक वंदना करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक की जाने वाली थोड़ी भी वंदना अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। जिन लोगों ने विधि-पूर्वक युद्ध करने की शिक्षा प्राप्त की है, वे संख्या में थोड़े होने पर भी विधिपूर्वक युद्ध करके विजयी होते हैं और अशिक्षित योद्धा बहु-संख्यक होने पर भी हार जाते हैं। इसी प्रकार विधिरहित बहुत वंदना की अपेक्षा विधियुक्त अल्प वंदना अधिक फलदायक होती है। इसलिए वंदना की विधि सीखने की आवश्यकता है। प्राचीन काल के लोग विधिपूर्वक ही वन्दना करते थे। आप लोग वंदना की विधि सीखकर, विधिपूर्वक वन्दना करेंगे तो आपका कल्याण होगा।

विधिपूर्वक वन्दना करने से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया है कि विधिपूर्वक वन्दना करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करके उच्चगोत्र का बंध करता है।

भगवान ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि उच्चगोत्र किसे कहते हैं और नीचगोत्र कम क्या है? आजकल नीचगोत्र और उच्चगोत्र कर्म का अर्थ समझने में भूल होती है और इससे अनेक लोग भ्रम में पड़ गये हैं। श्रीरमगाँव में मुझ से प्रश्न किया गया था कि शास्त्र में उच्च और नीच गोत्र का नाम आता है? मैंने कहा—हाँ, शास्त्र में दोनों का नाम आता है। तो उच्च गोत्र उच्च होगा और नीच गोत्र नीच होगा? उत्तर में मैंने कहा—तुम इस प्रकार तो कहते हो पर शास्त्र में कहीं ऐसा आया हो तो बताओ कि किसी मनुष्य को छूना नहीं चाहिए! इसके अतिरिक्त नीचगोत्र क्षय किया जाता है या उसकी रक्षा की जाती है? जब नीचगोत्र क्षय किया जाता है तो वह नीच गोत्र ही बना रहता है, यह कैसे कहा जा सकता है? नीच गोत्र वाला उच्च गोत्री भी बन सकता है।

गोत्र का अर्थ करते हुए कहा गया है —

गां वाणीं त्रायते रक्षते इति गोत्रं ।

'गो' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ वाणी है और 'त्र' का अर्थ पालन करना है। इस प्रकार गोत्र का अर्थ 'वाणी का पालन करना' होता है। इस अर्थ के अनुसार श्रेष्ठ पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला नीचगोत्री कहलाता है।

कहा जाता है कि नीच गोत्र वाले को मुक्ति नहीं मिल सकती, लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि नीचगोत्र कर्म का क्षय भी हो जाता है और तब वह मुक्ति का अधिकारी क्यों न होगा? नीचगोत्र में उत्पन्न होकर के भी उच्च पुरुषों की वाणी का पालन करने

वाला मुक्ति प्राप्त कर सकता है। गोत्र दो प्रकार का है—एक जन्म जात गोत्र और दूसरा कर्मजात गोत्र। जन्मजात गोत्र कर्म द्वारा बदला जा सकता है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएस बलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ॥

—उत्तराध्ययन १२-१।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हो जाने पर भी महापुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हो करके भी नीच-वाणी का पालन वाला नीचगोत्रवान् है। महाभारत में भी कहा है कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति भी चांडाल बन सकता है। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि उच्चता और नीचता जन्मजात ही नहीं किन्तु कर्मजात भी है।

वंदना का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि वन्दना से नीच गोत्र का क्षय होता है और उच्च गोत्र का बंध होता है। परन्तु इस बात का प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि वन्दना पूर्ण हो सके। जब मैं आप लोगों को यह विषय सुनाता हूँ तब यह भी विचार करता हूँ कि कहीं मैं ऐसा न रह जाऊँ कि कुड़छी दूसरों की थाली में तो परोस देती है लेकिन स्वयं कुछ भी स्वाद नहीं लेती। मैं कोरा न रह जाऊँ, अतः अपनी आत्मा से यही कहता हूँ कि हे आत्मन्! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सके। अगर मुझ से पूर्ण नियमों का पालन होता हो तो मुझे और क्या चाहिए? मगर मैं अपने सम्बन्ध में ऐसा अनुभव करता हूँ कि मुझ से अभी तक सम्पूर्ण आदर्श नियमों का पालन नहीं होता। अतएव

आत्मा को यही कहता हूँ कि—हे आत्मा ! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सकूं।

आपको ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि हम उच्च कुल में जन्म चुके हैं, इसलिए अब हमें कुछ भी करना शेष नहीं रहा, इससे विपरीत आपको यह विचारना चाहिए कि हम जितने अंशों में महापुरुषों की वाणी का पालन करते हैं उतने अंशों में तो उच्च गोत्र के हैं और जितने अंशों में उस वाणी का पालन नहीं करते उतने अंशों में उच्चगोत्री नहीं हैं। इस प्रकार विचार करने से ही अपनी अपूर्णता देखी जा सकती है और फलस्वरूप अपूर्णता दूर करने का प्रयत्न करके आत्मा का कल्याण किया जा सकता है।

अहंकार को जीतना वंदना का एक प्रधान प्रयोजन है। वन्दना का अर्थ नम्रभाव धारण करना है। नम्रभाव धारण करने वाला ही अहंकार को जीत सकता है परन्तु वन्दना सांसारिक पदार्थों की स्वार्थभावना से नहीं होनी चाहिए। सांसारिक पदार्थों की कामना से तो सभी लोग नमनभाव धारण कर लेते हैं। क्या व्यापारी अपने ग्राहक को नमन नहीं करता ? बचपन में मैंने इस स्थिति का अनुभव किया है कि व्यापारी किस प्रकार ग्राहक को नमन करते हैं। मैं जब छोटा था और दुकान पर बैठता था तब मुझे यह अनुभव हुआ था कि ग्राहक की कितनी प्रशंसा और कितना आदर किया जाता है। लेकिन यह सब नमनभाव उसकी गाँठ का पैसा निकलवाने के लिए ही होता है। इस प्रकार स्वार्थ सिद्धि के लिए तो वंदना की ही जाती है किन्तु यहाँ जिस वंदना की चर्चा चल रही है, वह ऐसी नहीं होनी चाहिए। वह गुणों की वंदना होनी चाहिए। गुण देखकर उन्हें प्राप्त करने के लिए की जाने वाली वंदना ही सच्ची वंदना है। इसी प्रकार की वंदना से अहंकार पर विजय प्राप्त की जा सकती और परमात्मा

अर्थात्—जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणों को धारण तो करता है, परन्तु उनका निर्वाह नहीं करता, उसे पासत्था कहते हैं। ऐसे (पासत्थ) लोगों को और इसी कोटि के कुशील और स्वच्छन्दी लोगों को वन्दना करना अनुचित है। कतिपय लोगों का कहना है कि हमें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रखना चाहिए और सभी को वन्दना करना चाहिए। मगर यह कथन ठीक नहीं है। राग द्वेष नहीं होगा तो वन्दना किये बिना ही मुक्ति मिल जायगी। अगर कोई वन्दना करता है तो उसे सोचना चाहिए कि वह किसको और किस उद्देश्य से वन्दना कर रहा है? राजपुरुष आदि को जो वन्दना की जाती है वह उनकी सत्ता के कारण की जाती है, लेकिन वंदना करने योग्य गुणों से रहित पासत्था आदि को वन्दना करने का उद्देश्य क्या है? यहाँ जिस वन्दना का प्रकरण चल रहा है, वह वन्दना संयमादि गुणों से हीन पुरुषों को करना उचित नहीं है। क्यों उचित नहीं है, यह बताने के लिए इस गाथा में कहा है कि पासत्था को वन्दना करने से कीर्त्ति भी नहीं मिलती। कहा जा सकता है कि कीर्त्ति न मिले तो न सही, निर्जरा तो होगी? मगर आगे इसी गाथा में कहा है—पासत्था आदि को वन्दना करने से निर्जरा भी नहीं होती। कोई कह सकता है—निर्जरा न हो तो न सही, वन्दना करने में हानि क्या है? इसके उत्तर में कहा है—पासत्था आदि को वंदना करने से निरर्थक कायक्लेश होता है। कदाचित् कहा जाय कि ऐसा कायक्लेश तो होता ही रहता है, इसके अतिरिक्त और कोई हानि तो नहीं होती? इस प्रश्न के उत्तर में, गाथा में बतलाया गया है कि पासत्था आदि को वन्दना करने से सिर्फ कायक्लेश ही नहीं होता वरन् अनाज्ञाकर्म का बंध भी होता है अर्थात् भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का पाप लगता है।

मान लीजिए, चम्पा के फूलों की माला ... है। यद्यपि चम्पा के फूलों की माला आपकी ... फिर भी अशुचि में पड़ी हुई वह माला पहनने ... प्रकार जो लोग पासत्थापन की अशुचि में पड़ गये हैं, ... बुद्धिमान् पुरुष किसी प्रकार का द्वेष धारण नहीं करता ... ही गुणी जनों के प्रति की जाने योग्य वन्दना भी ... निशीथसूत्र में भी कहा है—

जे भिक्खू पासत्थं वंदइ, नंदंतं वा साइज्जइ, ... कुसील उसन्नं, अहाछंद संसत्तं ।

इस प्रकार पासत्थ आदि को वन्दना करने का बहुत कु... निषेध किया गया है। यह ठीक है कि वन्दना करने से बहुत ला... होते हैं, मगर गुणरहित को वन्दना करने से लाभ के बदले, उलटी हानि ही होती है। वन्दना के ... बत्तीस दोष बतलाये गये हैं, उनका वर्णन करने का अभी समय नहीं है। अतएव संक्षेप में मैं इतना ही कहता हूँ कि पच्चीस आवश्यक सहित और बत्तीस दोषरहित वंदना करने का फल नीच गोत्र का क्षय करना और उच्च गोत्र ... है।

गोत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है। ... पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच ... की वाणी का अनुसरण करने वाला नीचगोत्री है। किसी ... कुल में ... प्रसंगों पर मदिरापान करने की परम्परा ... इस नीच ... का आचरण करना नीचगोत्र होने का कारण ... इसी प्रकार ... के कुल में ऐसी पद्धति होती है कि अमुक ... पर ... करना ही चाहिए। यह उच्च या श्रेष्ठ ...

प्रकार जो जैसा की वाणी का पालन करता है, उसके कुल में संस्कार भी प्राय वैसे ही बन जाते हैं और उस वाणी के पालन करने के आधार पर ही वे उच्चगोत्र के अथवा नीचगोत्र के माने जाते हैं। उच्चगोत्र वालों के कुल के संस्कारों से आत्मा उन्नत बनता है, अवनत नहीं बनता। किसी कुल के संस्कार ऐसे भी होते हैं कि उनकी बदौलत उन्हें अच्छी बात रुचिकर नहीं होती और पाप-कृत्यों के प्रति घृणा नहीं होती। किसी कुल के संस्कार ऐसे होते हैं कि चाहे जो हो पर उस कुल में जन्मने वाले पापकार्यों में प्रवृत्त नहीं होते। उदाहरण।—तुम्हारे सामने कोई लाख रुपयों की थैली रख दे तो भी तुम बकरे की गर्दन पर छुरी फेरने को तैयार नहीं होओगे। यह उच्चगोत्र और कुल के संस्कारों का ही प्रभाव है। कभी कभी उच्च गोत्र वालों में भी कोई बुरी बात घुस जाती है। जैसे तुम लोगों को बकरा मारने में जैसी घृणा है, वैसी ही घृणा क्या असत्य भाषण और व्यभिचार के प्रति भी है?

प्राचीन काल में व्यभिचार, हिंसा से भी अधिक बुरा माना जाता था। मगर आजकल व्यभिचार के प्रति उतनी घृणा नहीं देखी जाती। पुराने जमाने में व्यभिचार, हिंसा से भी बुरा समझा जाता था, इसका प्रमाण यह है कि महाशतक श्रावक की पत्नी रेवती हिंसा का क्रूर कर्म करती थी, फिर भी महाशतक ने उसे घर से बाहर नहीं निकाल दिया था। महाशतक ने रेवती को घर से बाहर क्यों नहीं निकाल दिया? इसका कारण मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाशतक यह विचार करता था कि रेवती का खानपान खराब है लेकिन मुझ पर इसका अनुराग है और वह व्यभिचार से बची हुई है। अगर मैं उसे बाहर कर दूंगा तो वह और अधिक बिगड़ जायगी और संभव है व्यभिचार आदि के पापों में भी पड़ जाय। इस

प्रकार विचार कर उसने स्वयं तो मांसभक्षण का आदर नहीं किया, किन्तु रेवती को व्यभिचार आदि पापों से बचाने के लिए घर से बाहर भी नहीं निकाला। इस तरह पहले के ज़माने में व्यभिचार हिंसा से भी बड़ा पाप माना जाता था।

आशय यह है कि वन्दना करने से नीचगोत्र का क्षय होता है और उच्च गोत्र का बंध होता है। कितनेक लोगों का कहना है कि किये हुए कर्म एकान्ततः भोगने ही पड़ते हैं, लेकिन कृत कर्म अगर बदले न सकते या क्षीण न हो सकते होते तो भगवान् वन्दना का फल यह न बतलाते कि वंदना से नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बंध होता है। मगर भगवान् ने वन्दना का यही फल बतलाया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृत कर्म भी बदल सकते हैं और उनकी निर्जरा भी की जा सकती है। वन्दना करने से अर्थात् नम्रता धारण करने से भी कर्मों का क्षय होता है।

वन्दना का एक फल नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बंध होना है—दूसरा फल सौभाग्य की प्राप्ति है और तीसरा फल अप्रतिहत होना है अर्थात् वन्दना करने वाला किसी से पराजित नहीं होता। वन्दना का चौथा फल यह है कि वन्दना करने वाले की आज्ञा के अनुसार कार्य होता है, अर्थात् उसकी आज्ञा का कोई लोप नहीं करता। वन्दना का पाँचवाँ फल दाक्षिण्य गुण आना है अर्थात् वन्दना करने से होशियारी एवं सर्वप्रियता प्राप्त होती है।

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने का ऐसा फल मिलता है। किन्तु आजकल के अधिकारी लोगों ने वंदना को भी स्वार्थसाधन का एक उपाय बना लिया है और इसलिए चाहे जिसे वन्दना कर ली जाती है। प्राचीन काल में यह बात नहीं थी। उस समय मस्तक

भल ही काट लिया जाय पर गुणहीनों के सामने मस्तक नहीं मुकाया जाता था। धर्म के विषय म भी यह नियम पालन किया जाता था और व्यवहार में भी इस नियम का पालन होता था। कहा जाता है कि मुगल सम्राट अकबर न महाराणा प्रताप को कहला भेजा था कि अगर राणा मेरे आगे नतमस्तक हों तो मैं उन्हें मेवाड़ के राज्य के अतिरिक्त और भी राज्य दूंगा। परन्तु महाराणा न प्रत्युत्तर दिया—'मैं उन्हें धार्मिक समझ कर नमस्कार करूँ, यह बात जुदी है, किन्तु लोभ के वश होकर तो कदापि नमस्कार नहीं करने का। ऐसा करने से मेरी माता को ही कलंक लगता है।' राणा प्रताप में ऐसी दृढ़ता थी। इसी दृढ़ता के कारण उन्हें जगल में इधर उधर भटकना पड़ा और मगरों में रहना पड़ा। राणा ने अपना कुलधर्म निभाने के लिए सभी कष्ट सहना स्वीकार किया किन्तु बादशाह के आगे नतमस्तक होना स्वीकार नहीं किया।

धममार्ग में भी इसी प्रकार की दृढ़ता धारण की जाय और सयम आदि गुणों के धारकों को विधिपूर्वक वदना की जाय तो भगवान् द्वारा प्ररूपित वदना का फल अवश्य प्राप्त होता है। मगर दृढ़ता धारण किये बिना फल की प्राप्ति नहीं होती। कामदेव और अरणक को पिशाच ने कैसे कैसे कष्ट दिये थे, फिर भी उन्होंने पिशाच के सामने मिर नहीं झुकाया। यह धर्मदृढ़ता का ही परिणाम है। धर्म में दृढ़ता रखने वाले के चरणों में देवता आकर नमन करते हैं। पहले देव ने कामदेव को कष्ट दिये थे किन्तु अन्त में देव को ही दृढधर्मी कामदेव के आगे झुकना पड़ा था। आप भी ऐसी ही धर्मदृढ़ता धारण करें। ढीले बन रहने से काम नहीं चलता। धर्म में अटल श्रद्धा और दृढ़ता धारण करने से ही कल्याण हो सकता है।

मन, वचन और काय की शुद्धि किस प्रकार की जा सकती है, यह बतान के लिए वन्दना का प्रकरण चल रहा है। वन्दना के प्रताप से आत्मा के अनेक विकार दूर हो जाते हैं और विकार दूर हो जाने पर मन, वचन और काय की शुद्धि होती है और आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। अतएव अगर आप पूर्ण आत्मशान्ति प्राप्त करना चाहते हैं और सुमार्गी बनना चाहते हैं तो गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करके ऐसा समझो कि यह सब गुरु के चरणों का ही प्रताप है। व्यवहार में तो कहते ही हो कि यह सब गुरुचरणों का प्रताप है, लेकिन हृदय में भी यही कहो और गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करो। साधारणतया साधुजन प्रत्येक बात उपदेश रूप में ही कहते हैं-आदेश रूप में नहीं। फिर आज आपको जो कुछ भी शुभ संयोग मिला है, वह किसी महात्मा की कृपा से ही मिला है। यह बात ध्यान में रखकर गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करोगे तो आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी और आत्मकल्याण होगा।

ग्यारहवाँ बोल।

प्रतिक्रमण

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने के लिए हृदय के भाव शुद्ध रखने चाहिए मगर कभी कभी शुद्ध भाव हृदय से निकल जाते हैं और अशुद्ध भाव उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इन अशुद्ध भावों को बाहर निकालने और आत्मा में पुन शुद्ध भाव लाने के लिए प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अतएव प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में भगवान से प्रश्न किया गया है —

प्रश्न—पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ ॥११॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशंगत ।
तत्रापि च स एवार्थ प्रतिकूल गमात्स्मृत ॥

पुरुष जिस स्थान से स्खलित हुआ हो, उसी स्थान पर उसका फिर आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता है। जो आत्मा स्व स्थान का त्याग करके, प्रमाद के वश होकर पर स्थान में चला गया हो, उसे फिर स्वस्थान में लाना प्रतिक्रमण है। जैसे कोई बालक अपना घर छोड़कर दूसरे के घर चला जाय तो उसे वापस अपने घर लाया जाता है। इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्थान से, दूसरे स्थान पर चला गया हो तो उसी को प्रतिक्रमण द्वारा अपने स्थान पर लाया जाता है।

घर में से चली गई इष्ट वस्तु को फिर अपने घर लौटा लाने का प्रयत्न सारा ससार करता है। आप लोग तिजोरी में से रुपया निकाल देते हैं किन्तु आपका प्रयत्न तो यही रहता है कि निकाला हुआ रुपया ब्याज सहित लौटकर आवे। रुपया लौटकर आयगा, इस आशा से आप उसे छोड़ नहीं देते। जिस रुपया की आशा छोड़ दी जाती है, वह जूआ में लगाया हुआ समझा जाता है। जिसमें लगाया रुपया लौटकर नहीं आता वह जूआ है, व्यापार नहीं। व्यापार तो वही माना जाता है जिसमें लगाया रुपया ब्याज के साथ वापस लौटता है। इस प्रकार सभी लोग यह चाहते हैं कि जो इष्ट वस्तु हमारे यहाँ से गई है, वह वापस लौट आवे। सारा ससार इसी प्रयत्न में संलग्न है।

स्वस्थान से चला गया आत्मा प्रतिक्रमण द्वारा फिर स्व स्थान पर लाया जाता है। प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा को फिर स्व स्थान पर लाने से आत्मा के भाव अपूर्व हो जाते हैं। आत्मा के

भाव क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक हैं। इन भावों से अलग होकर आत्मा का औदयिक भाव में जाना स्वस्थान से पर स्थान जाना है। इस परस्थान से आत्मा को फिर स्वस्थान में लाना ही प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा को इन्द्रियों की प्राप्ति क्षयोपशमभाव के प्रताप से ही हुई है किन्तु क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त इन्द्रियों को आत्मा उदयभाव में ले जाने के लिए तैयार हो जाता है। आत्मा को इस प्रकार न करने का उपदेश देने वाले लोग बहुत ही कम हैं, फिर भी ऐसा उपदेश देने वालों के उपदेश को आत्मा बहुत कम सुनता है और नाच गान वगैरह देखने में तथा सुनने में आनन्द मानता है। इस समय आत्मा को विचारना चाहिए कि मुझे जो इन्द्रियाँ मिली हैं वे औदयिक भाव से नहीं अपितु क्षायोपशमिकभाव से मिली हैं। ऐसी स्थिति में मैं इन्हें उदयभाव में डालकर स्वयं भी उदयभाव में क्यों पड़ा हूँ?

हिरन को क्या उपदेश दिया जा सकता है? उसे बचाने का प्रयत्न करने से तो वह और भागता है, लेकिन बाजे की आवाज सुनकर वह मस्त बन जाता है और पास आ जाता है। मृग नहीं जानता कि इस राग के पीछे बाण है। इसी प्रकार आत्मा भी विषयों में फँसा है और यह इतना विचार नहीं करता कि इन विषयों के पीछे मोह का कैसा तीखा बाण है। इस बात का विचार करके उदयभाव में गये हुए आत्मा को उदयभाव में से फिर स्वस्थान में अर्थात् क्षायोपशमिक आदि भावों में लाना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा किस प्रकार विषयादि में पड़ रहा है और किस प्रकार क्षयोपशमभाव से प्राप्त इन्द्रियों को उदयभाव में डाल रहा है,

इस बात को समझने के लिए यह देखना चाहिए कि हीरा की कान्ति बड़ी है या आँख की ज्योति बड़ी है ? न मालूम कितने क्षयोपशम भाव से आत्मा को आँखें मिली हैं। परन्तु इस तरह महा कष्ट से प्राप्त आँखें आत्मा को किस प्रकार उदयभाव में डाल देती हैं, इसके लिए रावण और मणिरथ के उदाहरण तुम्हारे सामने हैं। रावण और मणिरथ की आँखों ने ही उन्हें भ्रम में डाला था। यह तो बड़े आदमियों के उदाहरण हैं। छोटों की तो कोई गिनती ही नहीं है। इन उदाहरणों को सामने रखकर हम विचार कर सकते हैं कि रावण और मणिरथ की भाँति ही अनेक लोग आँख के कारण भ्रम में पड़ जाते होंगे! अतएव इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि आँखों को ऐसी जगह दृष्टिपात ही न करने दिया जाय, जो उदयभाव की हो।

क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त नेत्र अगर औदयिकभाव में जाते हैं तो इसके लिए किसे उपालम्भ दिया जा सकता है ? आँखों की बदौलत पतंग दीपक पर पड़कर भस्म हो जाता है। पतंग को इतना ज्ञान नहीं है, इस कारण वह दीपक से प्रेम करता है, मगर तुम तो ज्ञानवान् हो! पतंग को नेत्र मिले हैं, मगर वह नहीं जानता कि नेत्रों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। मगर तुम्हारे नेत्रों के पीछे तो महान् शक्ति विद्यमान है, जो बतला सकती है कि नेत्रों का उपयोग किस प्रकार किया जाय? पतंग चार इन्द्रियों वाला प्राणी है, मगर तुम्हारे पाँचों इन्द्रियाँ हैं। पंचेन्द्रियों में भी तुम सहीं पंचेन्द्रिय हो। संज्ञी पंचेन्द्रियों में मनुष्य-जन्म, आर्यक्षेत्र और श्रावककुल में तुम्हें जन्म मिला है। अतएव तुम्हें इस बात का भान होना ही चाहिए कि नेत्रों का सदुपयोग किस प्रकार किया जाय? इतना होने पर भी तुम्हारे नेत्र कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं! नेत्रों की चपलता के लिए सिर्फ नेत्रों को उपालम्भ देकर न रह जाओ, वरन्

मन की चंचलता को हटाने के लिए हृदयपूर्वक प्रतिक्रमण करो और जिस भाव से नर्यों की प्राप्ति हुई है, उसे उसी भाव में रहने दो। तुम प्रतिक्रमण तो करते हो पर मगर वह केवल व्यवहार मात्र के लिए ही न रह जाय, इस बात की सावधानी रक्खो। अगर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करोगे तो उससे अवश्य ही अपूर्व लाभ होगा।

यह हुई चक्षु की बात। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ भी क्षयोपशमभाव से ही प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त तुम्हें मन भी प्राप्त है और बुद्धि भी प्राप्त है। इन सब इन्द्रियों का, मन का और बुद्धि का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। व्यवहार में नाक के विषय में आप यह विचार अवश्य रखते होंगे कि अमुक काम करने से हमारी नाक कट जायगी, परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि व्यवहार के ही समान निश्चय में भी इसी बात का विचार रक्खो कि नाक कटाने के समान खराब कार्य न हों। मानव सुलभ दुर्बलता के वशीभूत होकर कदाचित् असत्कार्य कर बैठो तो उसके लिए पश्चात्ताप करके प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए और इस प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा पर स्थान में गये हुए आत्मा को स्वस्थान पर लाना चाहिए।

सुगंधित और स्वादिष्ट वस्तु तुम्हें अच्छी लगती है। मगर किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि यह वस्तु शरीर को टिकाये रखने के लिए आवश्यक है या केवल जिह्वालोलुपता का पोषण करने के लिए ही उसका उपयोग किया जा रहा है? जो पदार्थ देखने में और स्वाद में प्रिय लगते हैं, उनका उपयोग तो आप करते हैं, मगर यदि पदार्थ के गुण अव-गुण का विचार करके उसका उपयोग किया जाय तो दवा लेने की

इस बात को समझने के लिए यह देखना चाहिए कि हीरा की कान्ति बड़ी है या आँख की ज्योति बड़ी है ? न मालूम कितने क्षयोपशम भाव से आत्मा को आँखें मिली हैं। परन्तु इस तरह महा कष्ट से प्राप्त आँखें आत्मा को किस प्रकार उदयभाव में डाल देता हैं, इसके लिए रावण और मणिरथ के उदाहरण तुम्हारे सामने हैं। रावण और मणिरथ को आँखों ने ही उन्हें भ्रम में डाला था। यह तो बड़े आदमियों के उदाहरण हैं। छोटों की तो कोई गिनती ही नहीं है। इन उदाहरणों को सामने रखकर हम विचार कर सकते हैं कि रावण और मणिरथ की भाँति ही अनेक लोग आँख के कारण भ्रम में पड़ जाते होंगे। अतएव इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि आँखों को ऐसी जगह दृष्टिपात ही न करने दिया जाय, जो उदयभाव की हो।

क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त नेत्र अगर औदयिकभाव में जाते हैं तो इसके लिए किसे उपालम्भ दिया जा सकता है ? आँखों की बदौलत पतंग दीपक पर पड़कर भस्म हो जाता है। पतंग को इतना ज्ञान नहीं है, इस कारण वह दीपक से प्रेम करता है, मगर तुम तो ज्ञानवान् हो ! पतंग को नेत्र मिले हैं, मगर वह नहीं जानता कि नेत्रों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। मगर तुम्हारे नेत्रों के पीछे तो महान् शक्ति विद्यमान है, जो बतला सकती है कि नेत्रों का उपयोग किस प्रकार किया जाय ? पतंग चार इन्द्रियों वाला प्राणी है, मगर तुम्हारे पाँचों इन्द्रियाँ हैं। पंचेन्द्रियों में भी तुम सन्नी पंचेन्द्रिय हो। सन्नी पंचेन्द्रियों में मनुष्य-जन्म, आर्यक्षेत्र और श्रावककुल में तुम्हें जन्म मिला है। अतएव तुम्हें इस बात का भान होना ही चाहिए कि नेत्रों का सदुपयोग किस प्रकार किया जाय ? इतना होने पर भी तुम्हारे नेत्र कहाँ कहाँ भटक रहे हैं ! नेत्रों की चंचलता के लिए सिर्फ नेत्रों को उपालम्भ देकर न रह जाओ, वरन्

मन चंचलता को हटाने के लिए हृदयपूर्वक प्रतिक्रमण करो और जिस भाव से नत्रों की प्राप्ति हुई है, उस उसी भाव में रहना हो। तुम प्रतिक्रमण तो करते हो मगर वह केवल व्यवहार साधने के लिए हो न रह जाय, इस बात की सावधानी रक्खो। अगर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करोगे तो उससे अवश्य ही अपूर्व लाभ होगा।

यह हुई चक्षु की बात। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ भी क्षयोपशमभाव से ही प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त तुम्हें मन भी प्राप्त है और बुद्धि भी प्राप्त है। इन सब इन्द्रियों का, मन का और बुद्धि का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। व्यवहार में नाक के विषय में आप यह विचार अवश्य रखते होंगे कि अमुक काम करने से हमारी नाक कट जायगी, परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि व्यवहार के ही समान निश्चय में भी इसी बात का विचार रक्खो कि नाक कटाने के समान खराब कार्य न हों। मानव-सुलभ दुर्बलता के वशीभूत होकर कदाचित् अकार्य कर बैठो तो उनके लिए पश्चात्ताप करके प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए और इस प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा पर स्थान में गये हुए आत्मा को स्वस्थान पर लाना चाहिए।

सुगंधित और स्वादिष्ट वस्तु तुम्हें अच्छी लगती है। मगर किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि यह वस्तु शरीर को टिकाये रखने के लिए आवश्यक है या केवल जिह्वालोलुपता का पोषण करने के लिए ही उसका उपयोग किया जा रहा है? जो पदार्थ देखने में और स्वाद में प्रिय लगते हैं, उनका उपयोग तो आप करते हैं, मगर यदि पदार्थ के गुण अवगुण का विचार करके उसका उपयोग किया जाय तो द्रव्य

आवश्यकता ही न रहे। लेकिन लोग पदार्थ के गुणों का विचार नहीं करते और कहते लगते हैं कि हमारे घर में दवा है। उस पदार्थ ने हानि पहुँचाई तो दवा लेकर अच्छे हो जाएँगे। इस प्रकार दवा पर निर्भर रहकर लोग वस्तु के गुणों पर विचार नहीं करते। जो लोग गुणों पर विचार करते हैं वे पाप से भी बच सकते हैं और रोग से भी बच सकते हैं।

किसी भी वस्तु को केवल स्वाद की दृष्टि से ही मत अपनाओ उसके गुणों और दोषों का विचार करना आवश्यक है। मछली को काँटे में लगा हुआ मांस अच्छा लगता है, परन्तु वास्तव में वह मांस उसके खाने की वस्तु है या उसकी मृत्यु का उपाय है? आप मछली को उपदेश देने के लिए तैयार हो सकते हैं मगर मछली में उपदेश ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं है। लेकिन जरा अपनी ओर देखो। आप जानते बूझते मछली जैसा, सोचे समझे बिना काम कर बैठते हैं और स्वाद के वश होकर ऐसे पदार्थों का उपयोग करते हैं, जिनसे इहलोक और परलोक—दोनों बिगड़ते हैं।

आप में से अधिकांश लोग चाय पीते हैं। चाय पीने से होने वाली हानियों को जानते हुए भी आप चाय को प्रिय वस्तु मानते हैं और उसका त्याग नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, चाय द्वारा आजकल सत्कार किया जाता है और कदाचित् कोई उस सत्कार को स्वीकार न करे तो सत्कारकर्त्ता अपना अपमान मानता है। इस प्रकार के अनेक हानिकर खान पान अपना लिये गये हैं।

चाय किसी दूसरे देश में लाभकारक भले ही हो किन्तु भारत जैसे गर्म देश में, चाय जैसी गर्म वस्तु पेट में डालना, जान बूझकर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने के समान और रोग को आमंत्रित

करने के समान है। इस प्रकार अनेक हानियाँ उत्पन्न करने वाली चाय जीभ की लोलुपता को पुष्ट करने के लिए पीई जाती है या और किसी प्रयोजन से ? चाय की ही भाँति बीड़ी-सिगरेट आदि हानिकारक पदार्थ भी जीभ के स्वाद के लिए ही काम में लाये जाते हैं। न जाने बीड़ी सिगरेट में ऐसा क्या स्वाद है कि पीने वाले उनको पिंड नहीं छोड़ते। पेट में घुसने वाला धुँआ क्या स्वाद देता है ? यद्यपि बीड़ी सिगरेट में कोई सुस्वाद नहीं है फिर भी छोटे छोटे बालक तक बीड़ी पीते हैं। उन बालकों को किसी न किसी रूप में बड़े-बूढ़े ही बीड़ी पीना सिखलाते हैं। बड़े-बूढ़े जिस बीड़ी को पीकर फेंक देते हैं, उसी को बालक उठा लेते हैं और पीने लगते हैं। धीरे धीरे वह पीना सीख जाते हैं।

इस प्रकार केवल शौक के लिए हानिकारक वस्तुओं का उपयोग किया जाता है जिससे इहलोक की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है। प्राचीन काल में इस प्रकार के पाप नहीं होते थे, अतः सीधा कंदमूल और रात्रिभोजन त्याग वगैरह का उपदेश दिया जाता था। लेकिन आजकल तो बहुतेरे नवीन पाप उत्पन्न हो गये हैं। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि पहले किस पाप का त्याग करना चाहिए ? कल्पना करो कि एक मनुष्य बीड़ी पीता है और दूसरा आदमी कंदमूल का शाक खाता है। यद्यपि दोनों वस्तुएँ त्याज्य हैं और दोनों का ही त्याग कराना उचित है किन्तु पहले किस वस्तु का त्याग कराना उचित कहा जा सकता है ? मेरे विचार से बीड़ी पीना अनर्थदंड का पाप है। इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव से मिली हुई रसनेन्द्रिय को धूम्रपान द्वारा औदयिक भाव में लाया जाता है। ऐसे करने वाले लोग स्वयं पापात्मा बनते हैं और दूसरों को भी पापात्मा बनाते हैं।

स्पर्शेन्द्रिय का भी इसी प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा है। क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त स्पर्शेन्द्रिय को किस प्रकार उदयभाव में लाया जाता है, इस पर विचार किया जाय तो पता चले। जब कोई वस्तु पहले पहल सामने आती है तो वह खराब लगती है, लेकिन बार बार के उपयोग से वह अच्छी लगने लगती है। अगर किसी वस्तु को देखकर पहले ही उसका उपयोग न किया जाय तो उससे बचाव हो सकता है, मगर उपयोग करने के बाद फिर उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ—चर्बी के वस्त्र यदि पहले से ही न पहने जाएँ तो उनसे बचना कठिन नहीं है, मगर वस्त्रों का उपयोग करने के पश्चात्, आदत हो जाने पर त्याग करने में कठिनाई मालूम पड़ती है। चर्बी के इन वस्त्रों के पहनने से कैसा और कितना पाप हो रहा है, इस बात का विचार अगर प्रतिक्रमण करते समय किया जाय तो इन वस्त्रों को त्याग करने की इच्छा हुए बिना नहीं रह सकती।

कहने का आशय यह है कि उदयभाव में प्राप्त इन्द्रियों को और मन को उदयभाव के कार्य से विलग करके आत्मा के गुणों में स्थापित करना प्रतिक्रमण है। आप प्रत्येक वस्तु के विषय में प्रतिक्रमणपूर्वक विचार करें कि—'मैं जिन जिन पदार्थों का इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता हूँ, वह पदार्थ वास्तव में मेरे लिए हानिकारक हैं या लाभकारक हैं?' प्रत्येक पदार्थ का उपयोग करते समय इस प्रकार का विवेक करने की आवश्यकता है। पेट को 'लेटर बॉक्स' बनाना उचित नहीं है अर्थात् जैसे लेटरबॉक्स का मुँह हमेशा चिट्ठी डालने के लिए खुला रहता है, उसी प्रकार तुम्हारा पेट भी भोजन के लिए सदा खुला नहीं रहना चाहिए। ऐसा होने से कितनी हानि होती है, इस बात का विचार कीजिए और अपनी आत्मा को ओर

धिकभाव के कार्यों से निवृत्त करके आत्मिक गुणों में ही स्थापित कीजिए। इसी में आपका कल्याण है।

जैनशास्त्र परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की बात कहकर ही नहीं रह जाते। वे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्रियात्मक कार्य करने का भी उपदेश देते हैं। प्रतिक्रमण के उपदेश का प्रयोजन ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही है। प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—प्रतिक्रमण करने से व्रत में पड़े हुए छिद्र ढँक जाते हैं। अर्थात् अंगीकार किये हुए व्रतों में अतिचाररूपी जो छिद्र पड़ जाते हैं, वह प्रतिक्रमण करने से मिट जाते हैं।

'प्रतिक्रमण' शब्द 'प्रति' और 'क्रमण' इन दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ होता है—परस्थान में प्राप्त आत्मा को स्वस्थान पर लाना। स्वीकार किये व्रतों में दोष आना आत्मा का अपने स्थान से पतित होना है। उस पतित स्थान से आत्मा को फिर वापस लौटाना और अपने स्थान पर अर्थात् व्रतपालन में स्थिर करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा जब व्रतों को अंगीकार करता है तो सावधानी से ही अंगीकार करता है, परन्तु फिर प्राकृतिक दुर्बलता के कारण या छद्मस्थता के कारण व्रतों का पालन करने में किसी न किसी प्रकार की भूल हो जाना सम्भव है। भगवान् ने अपने ज्ञान से यह बात जानकर आज्ञा दी है कि मेरे शासन के साधु-साध्वियों को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इस काल में यह सम्भव नहीं है कि उनके व्रतों में कोई भी दोष न लगे। अतएव नियमितरूप से प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज अक्सर यह कहा करते थे कि पक्का मकान थोड़े दिनों तक सँभाला न जाय और उस मकान में जब कोई छिद्र दृष्टिगोचर हो तब छिद्र को ढँक दिया जाय तो उस मकान के सहसा पड़ जाने की सम्भावना नहीं रहती और न इस प्रकार कोई हानि होने का डर रहता है, परन्तु जो मकान कच्चा होता है उसे निरन्तर सम्भालने की आवश्यकता बनी रहती है और जरा-सा छिद्र नजर आया कि उसे फौरन मूँद देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार बीच के बाईस तीर्थंकरों के शासन के साधुओं के व्रत पक्के मकान सरीखे होते हैं। अतएव जब वे अपने व्रतों में छिद्र देखते हैं तो प्रतिक्रमण करते हैं, छिद्र नहीं देखते तो प्रतिक्रमण भी नहीं करते। परन्तु चौबीसवें तीर्थंकर के साधुओं के व्रत कच्चे मकान के समान हैं। अतः उन्हें अपने व्रतों की सदैव सार-सम्भाल रखनी चाहिए और व्रतों में पड़े हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा मोरते रहना चाहिए।

आप अपने कपड़ों में जब छेद पड़ा देखते हैं तो उसे सीकर बन्द कर देते हैं, तो फिर व्रतों में पड़े हुए छिद्रों को बन्द करने में कौन बुद्धिमान पुरुष विलम्ब करेगा? जो बुद्धिमान् होगा और जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता होगा वह अपने व्रतों में पड़े हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा तत्काल बन्द कर देगा। नौका में छेद हो गया हो और उस छेद के रास्ते नौका में पानी भर रहा हो तो क्या कोई बुद्धिमान पुरुष उस छेद को खुला रहने देगा? छेद बन्द न किया तो उसके द्वारा नौका में पानी भर जायगा और परिणाम यह होगा कि नौका डूब जायगी। इसी प्रकार अगर व्रतों में हुए छिद्र बन्द न कर दिये जाएँ तो आस्रव रूपी पानी भरे बिना नहीं रहेगा और फलस्वरूप व्रत रूपी नौका डूब जायगी। अतएव जैसे

मकान में से पानी न टपके इस बात का खयाल रक्खा जाता है, उसी प्रकार अपने व्रतों की भी सँभाल रखनी चाहिए। जब कभी व्रतों में छिद्र दिखाई दें तो उसे तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

मल्ल कुश्ती लड़ने के बाद और वीर योद्धा युद्ध करने के बाद, सन्ध्या समय अपनी शुश्रूषा करने वाले को बतला देता है कि आज सारे दिन में मुझे अमुक जगह चोट लगी है और अमुक जगह मुझे दर्द हो रहा है। जब मल्ल या योद्धा अपना दर्द बता देता है तो शुश्रूषा करने वाला सेवक औषध या मालिश द्वारा उस दर्द को मिटा देता है और दूसरे दिन मल्ल कुश्ती करने के लिए और योद्धा युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। इसके विपरीत मल्ल या योद्धा अपना दर्द शुश्रूषा करने वाले सेवक के आगे प्रकट न करे बल्कि छिपा ले तो उसका दर्द दूर न होगा और नतीजा यह होगा कि मल्ल कुश्ती करने और योद्धा युद्ध करने के लिए फिर जल्दी तैयार न हीं हो सकेगा। इसी प्रकार जो साधु दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में अपने व्रतों की सारणा-वारणा कर लेता है और लगे हुए दोषों को प्रतिक्रमण द्वारा दूर कर देता है, वह साधु निश्चित रूप से अपने कर्मों का अंत करता है।

कहने का आशय यह है कि प्रतिक्रमण द्वारा आस्रव रूपी पानी आने का छिद्र ढँक जाता है और प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध आस्रव बन जाता है। निरुद्ध आस्रव होने से उसका चारित्र भी असबल अर्थात् निर्मल रहता है। सबल का अर्थ है-मलीन-खराब। किसी वस्तु में दाग लग जाने से खराबी आ जाती है, उसे सबल कहते हैं। दाग वाली वस्तु अच्छी नहीं कहलाती। व्रतों में लगा हुआ दाग प्रतिक्रमण रूपी निर्मल नीर से धुल जाता है और इस कारण चारित्र निर्मल रहता है।

प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध आस्रव (आस्रव रहित) होने के कारण अमवल चारित्र वाला होगा और अमवल चारित्र वाला होने के कारण आठ प्रवचन माता का पालन करने में आरूढ़ होगा। भगवान् की कही हुई आठ प्रवचन माताएँ आत्मा के लिए माता के समान हैं। प्रवचन की उत्पत्ति भगवान से ही हुई है। भगवान् के मुख से निकले हुए आठ प्रवचन (पांच समिति, तीन गुप्ति) आत्मा के लिए माता के समान हितकर हैं। इन आठ प्रवचनों में बारह अंगों का समावेश हो जाता है। यद्यपि आठ प्रवचनों की बात साधुओं को लक्ष्य करके कही गई है तथापि वह सभी के लिए हितकारी है।

ईर्यासमिति भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और उच्चारादिपरिष्ठापनिकासमिति, यह पाँच समितियाँ हैं और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति, यह तीन गुप्तियाँ हैं। इस प्रकार इन आठ प्रवचनमाता में समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है। यह आठ प्रवचन जैसे साधुओं के लिए हितकारी हैं उसी प्रकार गृहस्थों के लिए भी हितकारी हैं।

ईर्यासमिति का अर्थ है—मर्यादापूर्वक गमन करना। मर्यादापूर्वक गमन किस प्रकार करना चाहिए, इसका शास्त्र में बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। यद्यपि यह समिति प्रधानरूप से साधुओं के लिए कही गई है परन्तु आप लोग (श्रावक) भी अगर इसका अभ्यास करें तो बहुत लाभ हो सकता है। एक तो इधर उधर आँखें घुमाते हुए चलना और दूसरे चार हाथ आगे की भूमि सावधानी के साथ देखते हुए चलना, इसमें बहुत अन्तर है। दृष्टि को एकाग्र करके चलना एक प्रकार की योगक्रिया का अभ्यास है। यह अभ्यास कैसा होता है, यह बात

अनुभव से ही जानी जा सकती है। चलने की क्रिया जान लेने से निश्चय और व्यवहार दोनों में बहुत लाभ है और चलने की क्रिया न जानने के कारण निश्चय और व्यवहार—दोनों में हानि होती है। अमेरिकन विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि जैसा प्राणायाम चलते समय हो सकता है, वैसा दूसरे समय नहीं हो सकता। इतना होने पर भी लोग चलने की क्रिया नहीं जानते। शास्त्र में साधुओं के लिए कहा है कि उन्हें चलते समय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का पालन करना चाहिए तथा चलते समय स्वाध्याय वगैरह किसी भी बात की ओर ध्यान न देते हुए इसी बात का खास ध्यान रखना चाहिए कि मेरा पैर कहाँ पड़ रहा है ? और मेरे पैर से किसी जीव को आघात तो नहीं पहुँच रहा है ? इस बात का ध्यान रखने से प्रतिक्रमण करते समय, हुए इर्यावही पाप का प्रक्षालन हो जाता है।

शास्त्र कहते हैं कि चलते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी दूसरे की गति कदापि न रुके। जब कीड़ी की गति का भंग करना भी निषिद्ध ठहराया गया है तो फिर मनुष्य की—जो पंचेन्द्रिय है—गति भंग करके उसे परतंत्रता में डालना क्या पाप न होगा ? जो आत्मा असबल चारित्रवाला होगा, वह ईर्यासमिति का बराबर पालन करेगा। असबल चारित्रवान् बनने के लिए ईर्या समिति का पालन करना आवश्यक है।

मुनि को ईर्यासमिति के समान भाषासमिति का भी ध्यान रखना चाहिए। कीड़ी, मक्खी या अन्य जानवरों के साथ बातचीत नहीं की जाती। बातचीत मनुष्यों के साथ ही की जाती है। अतएव बातचीत करते समय भय, हँसी, क्रोध या अन्य किसी कारण से कठोर भाषा नहीं बोलना चाहिए।

साधुओं के लिए कठोर भाषा बोलने का निषेध किया गया है तो क्या इसका अर्थ यह है कि आपको कठोर भाषा बोलना चाहिए ? कठोर भाषा बोलने से निश्चय और व्यवहार में आपको भी हानि ही होती है। इतना होने पर भी आज भाषा का बहुत दुरुपयोग होता दिखाई देता है। कायर लोग जीभ का जैसा दुरुपयोग करते हैं, वीर पुरुष वैसा दुरुपयोग नहीं करते। कुत्ते भौंकते हैं, वीर सिंह कभी नहीं भौंकता। यह बात दूसरी है कि सिंह गर्जना करता है मगर वह अपने आप गर्जता है, कुत्तों की भाँति दूसरों को देखकर नहीं। जैसे कुत्ते अपनी वाणी का दुरुपयोग करते हैं, उसी प्रकार कायर लोग भी अपनी वाणी का दुरुपयोग किया करते हैं। मगर इस प्रकार वाणी का दुरुपयोग करना योग्य नहीं है। हमारी जीभ से कैसी वाणी निकल रही है, इस बात का ध्यान आज बहुत कम लोग रखते हैं। उचित तो यह है कि बोलने से पहले प्रत्येक बात पर विवेकपूर्वक विचार कर लिया जाय कि मेरे भाषण में असत्य, भय या क्रोध तो नहीं है ? 'तं सच्चं खु भयवं' अर्थात् सत्य ही भगवान है, इस सिद्धान्त का ध्यान बोलते समय रक्खा जाय तो वाणी सार्थक होती है।

शास्त्र का कथन है कि वचन को शुभ रखना चाहिए और यदि बोलने की आवश्यकता ही हो तो क्रोध या भय आदि किसी भी कारण से कठोर अथवा असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। शास्त्र के अनुसार क्रोध के अधीन होकर बोला हुआ सत्य भी असत्य ही है। क्योंकि जो क्रोध के अधीन होकर बोलता है वह स्वतन्त्र होकर नहीं वरन परतन्त्र होकर बोलता है। स्वाधीनता पूर्वक बोली हुई वाणी ही सही हो सकती है। अतएव सदैव भाषा समिति का ध्यान रखना चाहिए। जीभ के विषय में वैताल कवि ने कहा है —

जीभ जोग अरु भोग जीभ ही रोग बुलावे,
जिभ्या से जस होय जीभ से आदर पावे।
जीभ करे फजहीत जीभ जूता दिलवावे,
जीभ नरक ले जाय जीभ वैकुंठ पठावे॥
अदल तराजू जीभ है, गुण अवगुण दोउ तोलिये।
वैताल कहे विक्रम ! सुनो, जीभ सँभालकर बोलिये॥

इस प्रकार जीभ से भलाई भी होती है और बुराई भी होती है। अतएव बोलने में विवेक रखना चाहिए। अगर विवेक न रह सकता हो तो उस दशा में मौन रहना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है—'मौन मूर्खस्य भूषणम्' अर्थात् मूर्ख पुरुष के लिए मौन ही भूषण है।

कतिपय लोग वाणी का ऐसा दुरुपयोग करते हैं कि वह उनकी भी अप्रतिष्ठा का कारण बनता है और दूसरों को भी उससे बुरा लगता है। अतएव बोलने में बहुत ही विवेक रखना चाहिए। वाणी का बड़ा महत्व है। उपनिषद् में कहा है—भोजन का सार भाग वाणी को ही मिलता है। इस प्रकार वाणी में शरीर की प्रधान शक्ति रहती है। वाणी की जितनी रक्षा की जाय उतना ही लाभ है। थोड़ी देर बोलने में तुम्हें कितना श्रम मालूम होता है ! इसका कारण यही है कि बोलने से शरीर की प्रधान शक्ति का व्यय होता है। वैज्ञानिकों के कथनानुसार जीभ में तोप से भी अधिक शक्ति है। इसलिए बोलने में विवेक की बड़ी आवश्यकता है।

इसी प्रकार एषणासमिति और आदान निक्षेपणसमिति में भी ध्यान रखना आवश्यक है और इसी प्रकार पाँचवीं समिति में भी विवेक रखना चाहिए। कोई भी चीज ऐसी जगह नहीं रखना,

चाहिए और न फेंकना चाहिए, जिससे देखने वाले को घृणा हो या गन्दगी का आभास हो। यहाँ (जामनगर-काठियावाड़) देखा जाता है कि वर्षा का जो पानी गड्ढा में भर जाता है और उसमें कीड़े पड़ जाते हैं उन कीड़ों को स्त्रियाँ एकत्र करके सुरक्षित जगह में रख देती हैं। स्त्रियों की यह दया प्रशस्त है। किन्तु जो स्त्रियाँ ऐसे जीवों पर भी इतनी दया रखती हैं उन्हें अपने घर में किस प्रकार वर्त्तना चाहिए और कितनी अधिक स्वच्छता रखनी चाहिए ? अगर वे अपने घर में गन्दगी रखती हैं तो दया का भी उपहास कराती हैं। उनका व्यवहार देखकर लोग यही कहेंगे कि जैनों की यह कैसी दया है जो घर में तो गन्दगी रखते हैं और बाहर इस प्रकार जीव बचाते हैं। यहाँ लोगों के घरों में इतनी गन्दगी रहती है कि न पूछो बात! शास्त्र में गन्दगी रखने का विधान कहीं नहीं है, प्रत्युत शास्त्र तो शौच-स्वच्छता पवित्रता को ही प्रधानता देता है। केवल नहाना धोना या पानी नहाना ही शौच नहीं है, किन्तु 'शौचात् स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः' अर्थात् शरीर की अशुचि का विचार करने से अपने अंग पर जुगुप्सा और दूसरे के अंग पर असंगभाव उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा की शुद्धि ही सच्ची शुचि है।

कहने का सारांश यह है कि शौच का सदैव ध्यान रखना चाहिए। शौच का ध्यान रखने से पाँचवीं समिति का बराबर पालन हो सकता है। इसी प्रकार तीन गुप्तियों का भी भलीभाँति पालन करना चाहिए। असबल चारित्रवान् पुरुष भगवान् द्वारा प्ररूपित आठ प्रवचनों का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

पहले कहा जा चुका है कि प्रतिक्रमण करने से व्रतों के छिद्र बन्द हो जाते हैं और छिद्र बन्द होने से कर्मों का आना (आस्रव) रुक जाता है और आत्मा 'निरुद्धास्रव' बन जाता है।

निरुद्धास्रव होने से आत्मा पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनों का पालन करने में दत्तचित्त बनता है और प्रवचनों के पालन में दत्तचित्त होने से संयमयोग के साथ आत्मा की अभिन्नता उत्पन्न होती है। अर्थात् आत्मा संयम के योग से जो भिन्न जा पड़ा है, वह भिन्नता नहीं रह जाती। पानी जब तक समुद्र से जुदा रहता है तब तक उसमें और समुद्र में जुदाई जान पड़ती है, परन्तु जब पानी समुद्र में मिल जाता है तो जुदाई मिट जाती है। समुद्र में मिलने से पहले पानी जुदा मालूम होता है क्योंकि बीच में पात्र है। पानी जब तक पात्र में है, तब तक वह समुद्र में नहीं मिल सकता और इसी कारण पात्र का पानी समुद्र से भिन्न मालूम होता है। बीच में पात्र न हो तो समुद्र के पानी और पात्र के पानी में कोई अन्तर न रहे। इसी प्रकार आत्मा मोह के कारण संयमयोग से भिन्न हो रहा है। यों तो आत्मा स्वरूपतः संयमयोग से भिन्न नहीं है, किन्तु भिन्नता आ गई है और उस भिन्नता का कारण मोह है। आत्मा किस प्रकार संयमयोग से भिन्न जा पड़ा है, इसके विषय में श्रीसूयगडांगसूत्र में कहा है—

> जेसिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वा संवसे नरे।
> ममाइ लुप्पइ बाले, अन्नमन्नेहिं मुच्छिए ॥

इस गाथा का आशय यह है कि आत्मा जिसके साथ रहता है और जिस कुल में उत्पन्न होता है, अपने आपको वैसा ही मान लेता है। उदाहरणार्थ—नीचे माने जाते लोग भी अपनी जाति में रचे पचे रहते हैं। जब नीच समझे जाने वाले प्राणी भी अपनी जाति में रचे-पचे रहते हैं तब स्पष्ट जान पड़ने लगता है कि आत्मा जिसके साथ रहता है अथवा जिस कुल में उत्पन्न होता है, वैसा ही अपने को मानने लगता है। इस प्रकार मान बैठने का कारण मोह

है। आत्मा में जो ममत्व और अज्ञान है, उसी के कारण ऐसा होता है। परन्तु आत्मा को इस बात का विचार करना चाहिए कि मैं क्या रक्त मांस हूँ? इस प्रश्न पर विचार न करने के कारण ही आत्मा संयमयोग से जुदा पड़ गया है। जब आत्मा आठ प्रवचनों का पालन करता हुआ भावप्रतिक्रमण करता है तब उसकी संयम योग से भिन्नता नहीं रहती और एकता स्थापित हो जाती है।

यह तो निश्चय की बात हुई कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा की संयमयोग से जो जुदाई है, वह मिट जाती है। लेकिन निश्चय की यह बात हम व्यवहार में कैसे समझें? जैन सिद्धान्त में ऐसी ऐसी विशेषताएँ भरी पड़ी हैं कि उनका वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग तो केवल निश्चयनय को ही इस प्रकार पकड़ बैठते हैं कि व्यवहार की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी हैं जो व्यवहार में ही रह जाते हैं और निश्चय का विचार तक नहीं करते। परन्तु जैन सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार—दोनों को एक साथ रखता है। इसीलिए यहाँ यह देखना है कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा की संयमयोग के साथ अभिन्नता होती है, इस निश्चय की बात को व्यवहार में किस प्रकार समझ सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र का कथन है कि जब भावप्रतिक्रमण होगा तब इन्द्रियाँ सुप्रणिहित होंगी अर्थात् इन्द्रियों में भीतर बाहर ऐसी शान्ति आ जायगी कि देखने वाले के हृदय में भी समाधि उत्पन्न होगी। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण की यह बाह्य परीक्षा होने से भावप्रतिक्रमण के नाम पर होने वाली ठगाई रुक जाती है। जैसे बगुला धीरे से एक पैर रखने के बाद दूसरा पैर उठाता है, किन्तु उसके हृदय में भावना कुछ और ही रहती है, उसी प्रकार बहुत से लोग दुनिया को अपना संयमयोग

दिखाने के लिए बाहरी रूप कुछ और ही दिखलाते हैं और इस प्रकार अपनी ठगाई जारी रखते हैं। किन्तु शास्त्र व्यवहार की यह परीक्षा बतलाता है कि जिनकी आत्मा सयमयोग से अभिन्न होगी, उनकी इन्द्रियाँ सुप्रणिहित होनी चाहिए अर्थात् उनकी इन्द्रियों में भीतर और बाहर ऐसी शान्ति होगी कि देखने वाले के दिल में समाधि उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी।

साधारणतया ससार में शुक्ल पक्ष भी है और कृष्ण पक्ष भी है, अर्थात् सयमयोग में प्रवृत्त होने वाले भी हैं और सयमयोग के नाम पर ठगाई करने वाले भी हैं। शास्त्र दोनों की स्पष्ट परीक्षा बतलाकर कहता है कि जिसकी आत्मा सयमयोग में वर्त्तती होगी, उसकी इन्द्रियों का प्रणिधान होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रकृति भी सयमयोग में वर्तन वाले की साक्षी देती है। उदाहरणार्थ किसी जगह ढाल (उतार) है या नहीं, यह जानने में कदाचित् तुम असमर्थ हो सकते हो, मगर पानी तत्काल उतार का पता लगा लेता है और जिधर उतार होता है उधर ही बहने लगता है। इसी प्रकार शास्त्र में कथित परीक्षा द्वारा सयमयोग में वर्तन वाले की पहचान कदाचित् आप न कर सकें मगर प्रकृति तो बतला ही देती है कि यह सयमयोग में प्रवृत्ति करने वाला है या नहीं? आपने यह तो सुना ही होगा कि प्राचीन काल में मुनियों की गोद में सिंह भी लोटा करते थे। सिंह कपटी लोगों की गोद में नहीं लोटते। वे उसकी गोद में लोटते हैं, जिनकी आत्मा सयमयोग में वर्त्तती है और जिनकी इन्द्रियाँ सुप्रणिहित होती हैं। यह सयमयोगी की परीक्षा है। जो सयमयोग में प्रवृत्त होगा उसकी परीक्षा प्रकृति भी इस रूप में प्रकट कर देती है।

जिनकी इन्द्रियाँ सुप्रणिहित नहीं हैं अर्थात् विषयवासना की तरफ दौड़ती रहती हैं, फिर भी जो लोग अपने को सयमयोगी के

रूप में प्रकट करते हैं, वे ठग और पाखण्डी हैं। गीता में भी कहा है-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचार स उच्यते॥

जिसके हृदय में विकार भरे हैं और जिसकी इन्द्रियाँ विषय वासना की ओर दौड़ा करती हैं, वह ऊपर से अपने को भले ही संयमी प्रकट करे मगर वास्तव में वह मिथ्याचारी-पाखंडी है।

इस प्रकार संयमयोग में प्रवृत्त न होते हुए भी जो अपने को संयमयोग में प्रवृत्ति करने वाला प्रकट करता है, उसकी निंदा सभी ने की है। इसी प्रकार संयमयोग में प्रवृत्त होने वाले महात्माओं की प्रशंसा भी सभी ने की है। वास्तव में संयमयोग में वर्त्तने वाले महात्मा धन्य हैं। ऐसे महात्माओं का सत्संग भी सौभाग्य से प्राप्त होता है। महापुरुषों का सत्संग होना भी एक बड़ा सौभाग्य है।

अब हमें विचार करना है कि हमें क्या करना चाहिए? करना यही है कि जब आप देवसी, रायसी, पाक्षिक, चातुर्मासिक या संवत्सरी का प्रतिक्रमण करें तब यह देखें कि हम अपने व्रतों से कहाँ कहाँ गिरे हैं? जहाँ जहाँ आप गिरे हों, उस जगह से अपने आपको हटाकर ठिकाने पर आइए। शास्त्र का कथन है कि जो पुरुष जिस योग में प्रवृत्त हो रहा हो वह उसी योग में अपनी आत्मा को सँभाले रहे। जिसकी इच्छा संयमयोग में वर्त्तने की होगी वह अपनी आत्मा को बराबर सँभाल कर रक्खेगा।

शास्त्र की यह बात ध्यान में रखते हुए अपनी आत्मा को संयमयोग में प्रवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्मा व्रत में से जहाँ कहीं पतित हुआ हो उस स्थान से उसे हटाकर यथास्थान

लाना चाहिए। जो चलता है, कहीं न कहीं उसका पैर फिसल हो जाता है। एक बार पैर फिसलने से वह सावधान बन जाता है, मगर उसकी सावधानी वहीं होती है जहाँ उसका पैर फिसलता है।

प्रतिक्रमण करना एक प्रकार से फिसली हुई आत्मा को सावधान करना ही है। प्रतिक्रमण करना आत्मारूपी घड़ी को चाबी देना है। अगर कोई घड़ी ऐसा हो कि जब तक उसमें चाबी घुमाई जाती रहे तब तक वह चलती रहे और चाबी घुमाना बन्द करते ही वह बन्द भी हो जाय, तो यही कहा जायगा कि वह घड़ी बिगड़ी है। एक बार चाबी देने पर नियत समय तक चलने वाली घड़ी ही अच्छी घड़ी कहलाती है। इसी प्रकार एक बार प्रतिक्रमणरूपी चाबी देने के पश्चात् आत्मा को नियत समय तक तो सावधान रहना ही चाहिए। अगर प्रतिक्रमण करते समय आत्मा शुद्ध रहे और प्रतिक्रमण बन्द करते ही शुभयोग से गिर जाय तो बिगड़ी घड़ी के समान ही उसका व्यवहार कहना चाहिए।

बारहवाँ बोल

कायोत्सर्ग

आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण के विषय में कहा जा चुका है। प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रमण करते समय व्रतों के अतिचार रूपी घाव देखकर, उन्हें बन्द करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी औषध लगाई जाती है। जिस प्रकार मैले कपड़े धोये जाते हैं और उनका मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा के व्रत रूपी वस्त्र पर अतिचार रूपी जो मैल चढ़ गया है, उसे साफ करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी जल से धोना पड़ता है। यही कायोत्सर्ग है। जिस किसी उपाय से शरीर को ही नष्ट कर डालना कायोत्सर्ग नहीं है, वरन् शरीर सम्बन्धी ममता को त्याग देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—काउसग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थधम्मज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—कायोत्सर्ग करने से भूतकाल के और वर्तमानकाल के अतिचारों को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध करता है और इस प्रकार शुद्ध हुआ जीव, जैसे सिर का बोझ उतरने से मजदूर सुखी होता है, उसी प्रकार अतिचार रूपी बोझ उतर जाने से उत्तम धर्मध्यान में लीन होता हुआ, इह लोक और परलोक में सुखी होता है और अनुक्रम से मोक्ष-लाभ करता है।

व्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में ऊपर भगवान् ने जो फरमाया है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है? टीकाकार 'कायोत्सर्ग' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि काय का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना कायोत्सर्ग है। काय के उत्सर्ग या त्याग करने का अर्थ यह नहीं है कि शस्त्र के आघात से, विषपान से या अग्नि पानी में कूद करके मर जाना और इस प्रकार शरीर का त्याग कर देना। किन्तु शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार काय का त्याग करना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के विषय में शास्त्र में ... गया है। उन सब स्पष्टीकरणों को स्पष्ट रूप से

कहने का अभी समय नहीं है, फिर भी यहाँ थोड़ा सा विवेचन करना आवश्यक है।

काय का त्याग दो प्रकार से होता है-प्रथम तो जीवन भर के लिए और दूसरे परिमित समय के लिए। जीवन भर के लिए किये जाने वाले कायोत्सर्ग के दो भेद हैं। एक यावज्जीवन कायोत्सर्ग उपसर्ग आने पर किया जाता है और दूसरा बिना उपसर्ग ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग उपस्थित होने पर यावज्जीवन के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि उपसर्ग के कारण अगर मैं मर गया तो मेरा यावज्जीवन कायोत्सर्ग है, अगर मैं जीवित बच गया तो जब तक उपसर्ग रहे तब तक के लिए ही यह कायोत्सर्ग है। निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग में ऐसा कोई आगार नहीं रहता। निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग में पादोपगमन संथारा ऐसा होता है कि जैसे वृक्ष में से काट डाली गई डाली निश्चेष्ट हो जाती और सूख जाती है, उसी प्रकार यह संथारा धारण करने वाले महात्मा अपने शरीर को 'शुष्क' कर डालते हैं। इस प्रकार का संथारा न कर सकने वाले के लिए इंगितमरण संथारा बतलाया गया है। लेकिन जो लोग इंगितमरण संथारा भी नहीं कर सकते, उनके लिए चौविहार या तिविहार का त्याग रूप यावज्जीवन कायोत्सर्ग बतलाया गया है। किन्तु इस प्रकार के सब निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग तभी किये जाते हैं जब ऐसा प्रतीत हो कि मरणकाल समीप आ गया है। मरणकाल सन्निकट न आया हो तो इस प्रकार का कायोत्सर्ग अर्थात् संथारा नहीं किया जा सकता। यों तो कायोत्सर्ग अर्थात् संथारा करना अच्छा ही है किन्तु जब तक मरणसमय सन्निकट नहीं है या संथारा करने का कोई कारण नहीं है, तब तक इस प्रकार

के कायोत्सर्ग करने का विधान नहीं है। अतएव योग्य समय प्राप्त होने पर संथारा करना ही उचित है।

सिंह वगैरह का कोई प्राणघातक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी संथारा किया जाता है, किन्तु वह संथारा इस रूप में किया जाता है कि अगर इस उपसर्ग से मेरे प्राण चले जाएँ तो यावज्जीवन के लिए मेरा कायोत्सर्ग है और यदि इस उपसर्ग से बच जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग जीवनभर के लिए नहीं है।

कहा जा सकता है कि यह कायोत्सर्ग तो 'गूढा नारी प्रतिव्रता' की उक्ति चरितार्थ करता है। अर्थात् उपसर्ग से न बच सको तो त्याग है, बच गये तो त्याग नहीं है, भला यह भी कोई त्याग है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उपसर्ग के समय इस प्रकार का त्याग करने से उपसर्ग के कारण पर क्रोध नहीं भड़कता। कायोत्सर्ग करने के बाद, उपसर्ग के कारण के प्रति इस प्रकार का क्रोध नहीं होता कि 'मैंने इसका क्या बिगाड़ा था कि यह मुझे कष्ट पहुँचा रहा है!' जब उपसर्ग के कारण पर क्रोध नहीं आता और उपसर्गदाता पर भी शान्तभाव बना रहता है, तभी कायोत्सर्ग ठीक रह सकता है। कायोत्सर्ग करने पर भी यदि उपसर्ग करने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ तो वह कायोत्सर्ग ही नहीं है।

अर्जुन माली सुदर्शन श्रावक को जब मारने आया था तब सुदर्शन को उस पर क्रोध आना संभवित था। लेकिन सुदर्शन ने अर्जुन पर क्रोध नहीं किया, बल्कि अपना मित्र समझा। उसने विचार किया कि अर्जुन परीक्षा ले रहा है कि मुझ में क्रोध है या नहीं? मैं भगवान् का सच्चा भक्त हूँ या नहीं? अतएव हे प्रभो! मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि अर्जुन मित्र पर मुझे कदापि क्रोध न आवे!

उपसर्ग आने पर कायोत्सर्ग करने का महत्व यह है कि सुदर्शन को अर्जुन माली पर उस समय क्रोध नहीं आया। अब यह कहा जा सकता है कि ऐसा ही है तो यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने की क्या आवश्यकता है? मर्यादित समय के लिए ही कायोत्सर्ग क्यों न किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सम्भव है, उपसर्ग में ही मरण हो जाय। यह बात दृष्टि में रखकर ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है।

कहा जा सकता है कि फिर यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए ही क्यों नहीं रक्खा जाता? उपसर्ग से बचने के बाद वह त्याग क्यों नहीं माना जाता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मरण काल समीप न होने पर भी कायोत्सर्ग करना उचित नहीं है। ऐसा कायोत्सर्ग आत्महत्या की कोटि में दाखिल हो जाता है। आत्महत्या का पाप भी न लगे और उपसर्ग से बचने के बाद कायोत्सर्ग भंग करने का पाप भी न लगे, इसी उद्देश्य से उपसर्ग के समय यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने पर भी यह छूट रक्खी जाती है कि अगर मैं उपसर्ग से बच जाऊँ तो मेरे त्याग नहीं है। उपसर्ग से बचने के बाद शरीर की सँभाल तो रखनी ही पड़ती है, अतएव मर्यादित त्याग किया जाता है। इस प्रकार का मर्यादित त्याग साधु अपनी रीति से करते हैं और श्रावक अपनी रीति से।

सोते समय भी इस प्रकार का संथारा करने की पद्धति है कि अगर सोते सोते ही मेरा मरणकाल आ जाय तो मेरे यावज्जीवन संथारा है। सोते समय संथारा करने की ऐसी पद्धति है। किन्तु इस प्रकार के संथारे में भावना की प्रबलता होना आवश्यक है। ऐसा संथारा करने के पश्चात् मन सांसारिक कामों में नहीं लगना चाहिए। कहा जा सकता है कि संस्कार के कारण स्वप्न तो आते ही

होंगे। मगर स्वप्न आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए और उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए। अलबत्ता, जहाँ तक हो सके, मौन समय मन में किसी भी प्रकार का सांसारिक संस्कार नहीं रहने देना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—कायोत्सर्ग करने से अतीतकाल और वर्त्तमानकाल के पापों के प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि अतीतकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि तो ठीक है, पर भूतकाल की विशुद्धि में वर्त्तमानकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि किस प्रकार होती है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि समीप का भूतकाल भी वर्त्तमानकाल ही कहा जाता है। अतीतकाल का अर्थ दूरवर्ती पिछला काल है और वर्त्तमानकाल का आशय समीपवर्त्तीकाल है। जैसे—दिन के चार प्रहर होते हैं। आप सन्ध्यासमय प्रतिक्रमण करते हैं। उस समय सारा ही दिन भूतकाल है लेकिन दिन का चौथा प्रहर समीप का भूतकाल है अर्थात् आसन्नभूत है। इस आसन्न भूतकाल को ही यहाँ वर्त्तमानकाल कहा है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान ने कहा है कि कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है, लेकिन जिससे पाप का छेदन हो वही प्रायश्चित्त कहलाता है और इस प्रकार प्रायश्चित्त का अर्थ विशुद्धि है। तो फिर प्रायश्चित्त की विशुद्धि कैसे की जाती है? इसका उत्तर यह है कि यहाँ प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग व्रत के अतिचारों के लिए किया गया है। प्रायश्चित्त करने योग्य व्रत सम्बन्धी अतिचारों की कायोत्सर्ग करने से विशुद्धि होती है।

शुद्ध लोगों का कहना है कि किये हुए पाप का फल भोगना ही पड़ता है। मगर जब सब चीजों की विशुद्धि होती है तो पाप की ही विशुद्धि क्यों न होगी? जब संसार की समस्त वस्तुओं की विशुद्धि हो सकती है तो फिर अतिचार से अशुद्ध आत्मा की विशुद्धि न होने का क्या कारण है?

संसार की समस्त वस्तुएँ शुद्ध की जा सकती हैं और दूसरे लोगों ने इस प्रकार का शुद्धता करके लाभ भी प्राप्त किया है, मगर हिन्दूजाति ने यह शुद्धि नहीं अपनाई और इसी कारण उसे हानि उठानी पड़ी। हिन्दूजाति ने यह समझ लिया कि एक बार जो अशुद्ध हो गया सो बस हो गया, वह फिर कभी शुद्ध नहीं हो सकता। सोना भी अशुद्ध होता है लेकिन वह शुद्ध कर लिया जाता है। अगर कोई चौकसा (सर्राफ) सोने को शुद्ध करने के बजाय फेंक दे और यह समझ ले कि एक बार अशुद्ध हो जाने के बाद उसकी शुद्धि हो ही नहीं सकती तो उसका दीवाला निकल जायगा या नहीं? वास्तव में यह मानना भूल है कि किये हुए पापों की शुद्धि नहीं हो सकती। पापों की विशुद्धि अवश्य हो सकती है। अगर पापों की विशुद्धि असम्भव होती तो सामायिक प्रतिक्रमण करना भी व्यर्थ हो जाता। पापों की विशुद्धि होती है मगर जैसा पाप हो वैसा ही प्रायश्चित्त होना चाहिए। कपड़े पर जब तक किसी प्रकार का अशुचि लगी हो तब तक उसके प्रति घृणा बनी रहती है, मगर कपड़ा धोकर साफ कर लेने के पश्चात् पहना ही जाता है। इसी प्रकार अपने पापों को कायोत्सर्ग द्वारा धो डालने से आत्मा निष्पाप हो जाता है।

व्रतों में अतिचार लगने से जो पाप आत्मा के लिए बोझ रूप हो जाते हैं, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा उस बोझ से निवृत्त हो

जाता है। कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि कायोत्सर्ग में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह गई है। दवा लेने पर भी बीमारी न मिटे तो यही समझा जाता है कि या तो दवा में कोई दोष है या दवा लेने वाले में कोई त्रुटि है। इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप के भार से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा ने सम्यक् प्रकार से कायोत्सर्ग नहीं किया है।

कायोत्सर्ग करने से आत्मा के ऊपर लगा हुआ भार उतर जाता है और तब आत्मा को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है, जैसे बोझ उतरने पर मजदूर को आनन्द होता है। स्थानांगसूत्र के चौथे स्थानक में आत्मा के लिए चार विश्रान्तिस्थान बतलाये हैं। उनका सार इतना ही है कि जैसे सिर का भार उतर जाने से शान्ति मिलती है उसी प्रकार आत्मा पर लगा हुआ पाप का भार कायोत्सर्ग द्वारा उतर जाने से आत्मा को शान्ति मिलती है। इस प्रकार आत्मा स्वस्थ बनता है और सुखपूर्वक विचरता है। इतना ही नहीं, शान्त होकर आत्मा फिर प्रशस्त धर्मध्यान में तल्लीन हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के भार से हल्का हो जाता है। आत्मा निष्पाप होकर प्रशस्त धर्मध्यान में तल्लीन रहता है और मुक्ति उसके समीप आ जाती है। इस प्रकार निष्पाप बना हुआ आत्मा कभी दुःखी नहीं होता, सदा सुखी बना रहता है। सुखी बनने का उपाय यही है कि आत्मा पर पाप का जो भार लदा हो उसे कायोत्सर्ग द्वारा उतार दिया जाय। मगर दुनिया की पद्धति निराली ही नजर आती है। लोग धन-पुत्र वगैरह से सुख समझते हैं अर्थात् जिनके ऊपर पाप का भार लदा है उन्हीं को सुखी समझा जाता है और जो लोग पाप के भार से हल्के हो गये हैं उन्हें

दुखी माना जाता है। यह एक प्रकार का भ्रम है। सुखी वास्तव में वही है जिसके सिर पर पाप का भार नहीं रहा, जो पाप का बोझा उतार कर हल्का बन गया है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ छिपी हुई हैं। उन्हें प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकार कायोत्सर्ग का उपदेश देते हैं। भगवान कहते हैं—कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के बोझ से मुक्त होकर सुख लाभ करता है और प्रशस्त धर्मध्यान में लीन होकर मुक्ति के समीप पहुँचता है। काय के प्रति ममताभाव का त्याग करके कायोत्सर्ग करने वाले को किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता। वह सुखी होता है।

हे आत्मन्! तुममें और परमात्मा में जो भेद है, वह कायोत्सर्ग द्वारा मिट जाता है। व्यतिरेक से इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा और परमात्मा के बीच भेद डालने वाला यह शरीर ही है। उदाहरणार्थ—आग पर पानी रखने से पानी उबलता है और उबलने पर सन् सन् की आवाज करता है। यह आवाज करता हुआ पानी मानो यह कह रहा है कि मुझ में आग बुझा देने की शक्ति है, लेकिन मेरे और आग के बीच में यह पात्र आ गया है। मैं इस पात्र में बन्द हूँ और इसी कारण आग मुझे उबाल रही है और मुझे उबलना पड़ रहा है। इसी प्रकार आत्मा तो सुखस्वरूप ही है, परन्तु इस शरीर के साथ बद्ध होने के कारण वह दुःख पा रहा है। कायोत्सर्ग द्वारा जब शरीर सम्बन्धी ममत्व भाव त्याग दिया जाता है तब आत्मा में किसी प्रकार का दुःख नहीं रह पाता।

तेरहवाँ बोल।

प्रत्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से आत्मा सुखपूर्वक विचरता है और प्रत्याख्यान करने के योग्य बनता है। प्रत्याख्यान वही कर सकता है जो कायोत्सर्ग करता है। अतएव अब प्रत्याख्यान के विषय में भगवान से प्रश्न किया जाता है —

मूलपाठ

प्रश्न—पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयई ?

उत्तर—पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभई, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—प्रत्याख्यान करने से (अर्थात् मूलगुण और उत्तर गुण धारण करने से) हिंसा आदि आस्रवद्वार बन्द हो जाते हैं

और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सब द्रव्यों की तृष्णा से रहित होता है और इस प्रकार शान्तचित्त हो सुखपूर्वक विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके आशय पर विचार करने से पहले इस बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग कर लेने पर भी प्रत्याख्यान करने की क्या आवश्यकता है? शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करने के उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है। अन्य जनता में मृत्यु का जो प्रबल भय फैला है, कायोत्सर्ग द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जाती है। कायोत्सर्ग करने से मनुष्य 'जीवियासा मरणभयविप्पमुक्क' अर्थात् जीवन की लालसा और मरण के भय से मुक्त हो जाता है। कायोत्सर्ग से अतीत काल के पापों की शुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से भविष्य के पाप रुकते हैं। इस प्रकार कायोत्सर्ग से भूतकालीन पापों की शुद्धि होती है, परन्तु भविष्य में होने वाले पापों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता है। अतएव कायोत्सर्ग करने वाले को प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है कि मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करने के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पाँच मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं। अर्थात् साधुओं के लिए पाँच महाव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी आदि उत्तरगुण हैं। इसी प्रकार श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह

मूलगुण हैं। स्थूल हिंसा न करना, स्थूल असत्य न बोलना, स्थूल चोरी न करना, परस्त्रीगमन न करना और परिग्रह की मर्यादा करना, यह पाँच अणुव्रत श्रावक के मूलगुण हैं और सात व्रत उत्तरगुण हैं। उत्तरगुण [illegible] मूलगुणों के लिए बाड़ के समान हैं। [illegible] कि बाड़ उसी खेत में लगाई जाती है, जिसमें कुछ हो। जिस खेत में कुछ भी नहीं होता, उस खेत के चारों ओर बाड़ लगाना व्यर्थ समझा जाता है। किसी श्रावक में उत्तरगुण न हों परन्तु मूलगुण हों तो जैन शास्त्र इतना अनुचित नहीं मानता जितना अनुचित मूलगुण न होना मानता है। मूलगुणों के प्रति तनिक भी ध्यान न रखते हुए केवल उत्तरगुणों से चिपटे रहना एक प्रकार का ढोंग है। उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य व्यवहार में हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और पर धन का हरण करता रहता है और धर्मस्थान में आकर सामायिक व्रत का दिखावा करता है, तो उसका यह दिखावा ठीक नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं, उसका ऐसा करना अपने साथ धर्म और धर्मगुरु को भी लजाता है। इसके विपरीत कोई मनुष्य सामायिक तो नहीं करता किन्तु स्थूल हिंसा भी नहीं करता—बल्कि दुःखी जीवों पर अनुकम्पा करता है, सत्य बोलता है, प्रामाणिकता रखता है और इसी प्रकार अन्य मूलगुणों का पालन करता है तो वह घर में बैठा बैठा भी साधुओं की महिमा बढ़ाता है। इस प्रकार उत्तरगुणों के लिए मूलगुणों का होना आवश्यक है और मूलगुण होने पर उत्तरगुणों को अपनाने की इच्छा स्वतः उत्पन्न होगी। जिसमें मूलगुण होंगे, वह अपने मूलगुणों को विकसित करने के लिए उत्तरगुणों को अपनाएगा ही। इस प्रकार मूलगुणों के साथ ही उत्तरगुणों का नाम है। प्रत्याख्यान करने से मूलगुणों और उत्तरगुणों का धारण किया जा सकता है।

और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा का निरोध होने से ज सब द्रव्यों की तृष्णा से रहित होता है और इस प्रकार शान्तचि हो सुखपूर्वक विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके आशय पर विचा करने से पहले हम बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग कर लेने पर भी प्रत्याख्यान करने की क्या आवश्यकता है शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करने के उद्देश से कायोत्सर्ग कि जाता है। अन्य जनता में मृत्यु का जो प्रबल भय फैला है, कायोत्सर्ग द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जाती है। कायोत्सर्ग करने से मनु 'जीवियासा मरणभयविप्पमुक्क' अर्थात् जीवन की लालसा औ मरण के भय से मुक्त हो जाता है। कायोत्सर्ग से अतीत काल पापों की शुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से भविष्य के पाप रुकते हैं इस प्रकार कायोत्सर्ग से भूतकालीन पापों की शुद्धि होती है, पर भविष्य में होने वाले पापों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करने आवश्यकता है। अतएव कायोत्सर्ग करने वाले को प्रत्याख्या अवश्य करना चाहिए।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इ प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है कि मूलगुणों और उत्तरगुण का धारण करने के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पाँच मूलगुण हैं औ नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं। अर्थात साधुओं के लिए पाँच मह व्रत मूलगुण हैं और नवकारसी आदि उत्तरगुण हैं। इसी प्रकार श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है? भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है। वास्तव में प्रत्येक कार्य का फल जानना आवश्यक है। फल जाने बिना किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस कथन के अनुसार प्रत्याख्यान करने से क्या फल मिलता है, यह जानना भी आवश्यक है। प्रत्याख्यान के फल के सम्बन्ध में पूछे हुए प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रव द्वारों का निरोध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, यह पाँच आस्रव हैं। प्रत्याख्यान इन पाँच आस्रवों को रोकता है। जो हिंसा का त्याग करेगा वह किसी जीव को मारेगा नहीं और न दुःख ही देगा। वह स्वयं कष्ट सहन कर लेगा पर दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाएगा। जो असत्य का त्याग करेगा वह किसी के सामने झूठ नहीं बोलेगा। चोरी का त्याग करने वाला किसी की चीज नहीं चुराएगा। मैथुन का अथवा परस्त्री का त्याग करने वाला इस पाप में कदापि नहीं पड़ेगा।

अभया रानी ने सुदर्शन सेठ को कितना भय और प्रलोभन दिया, फिर भी सुदर्शन ने व्यभिचार का सेवन नहीं किया। इसका कारण यही था कि सुदर्शन परस्त्री का त्यागी था। इसी प्रकार परिग्रह का परिमाण करने वाला दूसरे के द्रव्यों पर मन नहीं करेगा और धन आने पर प्रसन्नता का तथा धन जाने पर दुःख का अनुभव नहीं करेगा। परन्तु परिग्रह का सर्वथा त्यागी तो किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रक्खेगा। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इच्छा का निरोध हो जाएगा। प्रत्याख्यान का महत्व ही यह है कि प्रत्याख्यान करने वाले को अपने त्याग से बाहर की मूल्यवान् वस्तु मिलेगी तो भी वह लेने के लिए तैयार नहीं होगा और न उसे स्वीकार

करेगा। उदाहरणार्थ—अरणक श्रावक को किसी देव ने कुडलों की जोड़ियाँ दी थीं। व कुडल कितने कीमती होंगे ? फिर भी उसने कुडल अपने पास नहीं रक्खे। उसने राजाओं को भेंट कर दिये। इसका कारण यही था कि कुडल की जोड़ी उसके त्याग की मर्यादा के बाहर की वस्तु थी। उसने परिग्रह की मर्यादा कर ली थी। जो परिग्रह का परिमाण कर चुका होगा वह चिन्तामणि या कल्पवृक्ष मिलने पर भी उसे ठुकरा देगा क्योंकि यह अमूल्य वस्तुएँ उसका त्याग भग करने वाली हैं। इस प्रकार की अमूल्य वस्तुएँ भी स्वीकार न करना प्रत्याख्यान का ही प्रताप है।

सभी लोग अगर इच्छा का परिमाण कर लें तो ससार में किसी प्रकार की अशान्ति ही न रहे। आज संसार में जो अशान्ति फैल रही है, वह इस व्रत के अभाव के कारण ही फैल रही है। इस व्रत के पालन न करने के कारण ही बोल्शेविज्म–साम्यवाद उत्पन्न हुआ है। भारतवर्ष में भी साम्यवाद का प्रचार बढ रहा है। धनवान् लोग पूँजी दबाकर बैठ रहें और गरीब दुःख पावें, तब गरीबों को धनिकों के प्रति द्वेष उत्पन्न हो, यह स्वाभाविक है। गरीबों के हृदय में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो सकती है कि हम तो भूखों मरें उठा रहे हैं और यह लोग अनावश्यक धन दबाकर बैठे हैं। तुम ठाँस ठाँस कर पेट भरो और बच तो फैंक दो, मगर तुम्हारे सामने दूसरा मनुष्य भूखों मर रहा हो और उसकी खोजखबर तक न लो! इसी प्रकार तुम्हारे पास अनावश्यक वस्त्र ट्रंकों में भरे पड़े रहें और दूसरा मनुष्य थरथराती हुई ठंड में सिकुड़कर मर रहा हो फिर भी उसे कपड़ा न दो! तब इन दुःखी मनुष्यों में तुम्हारे प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो और द्वेषभाव से प्रेरित होकर व तुम्हारा धन लूटने के लिए तैयार हो जाएँ, यह स्वाभाविक है।

कहोगे कि कंगाल लोग हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं? मगर यह समझना भूल है। यह कंगाल लोग थोड़े नहीं हैं और फिर आज तुम्हारे पास जो धन है वह इन्हीं से तुम्हारे पास आया है। अतएव तुम्हें विचार करना चाहिए कि जब वस्तु भेद नहीं करती तो फिर मनुष्य भेद करने का क्या अधिकार है? वस्तु तो किसी प्रकार का भेद नहीं करती। जो भोजन तुम्हारी भूख शान्त कर सकता है वह क्या दूसरों की भूख नहीं मिटा सकता? इस प्रकार जब वस्तु भेद नहीं करती तो तुम क्यों भेद करते हो? प्राचीन काल में तो ऐसे एम लोग हो गए हैं, जिन्होंने स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को भोजन दिया। अगर तुम उन सरीखे नहीं बन सकते तो कम से कम इतना तो कर सकते हो कि तुम्हारे पास जो वस्तु अधिक हो उसे दबाकर मत बैठे रहो। तृष्णा के वश होकर दूसरों के दुःख की उपेक्षा तो मत करो। तृष्णा की पूर्त्ति न कोई कर सका है और न कभी हो हो सकेगा। अतएव इच्छा का निरोध करके तृष्णा को रोको। इस विषय में जो बात जैनशास्त्र कहता है, वही बात महाभारत में भी कही गई है। महाभारत में कहा है—

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम् ॥

इस श्लोक का आशय यह है कि, इस लोक में किसी को चक्रवर्ती जैसा पद भले ही प्राप्त हो जाय और देव संबंधी दिव्य सुख भी मिल जाय इन दोनों सुखों को तराजू के एक पलड़े में रख दिया जाय और दूसरे पलड़े में इच्छा निरोध का सुख रक्खा जाय, तो यह दोनों सुख इच्छानिरोध के सुख की तुलना में सोलहवीं कला भी प्राप्त नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि दिव्य सुख, इच्छानिरोध के सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं है।

सामान खरीदा, फिर भी अमुक चीज बाकी रह गई है, ऐसी आवश्यकता बनी ही रही। तब उस आदमी ने विचार किया जिस पलंग के पीछे इतना अधिक खर्च करना पड़ रहा है, उसको ही क्या न निकाल दिया जाय ?

आखिरकार पलंग निकाल देने पर ही उसे संतोष हुआ। इस प्रकार एक वस्तु हुई कि उसके साथ दूसरी वस्तु की आवश्यकता खड़ी हो जाती है। ऐसा होने पर भी तृष्णा का त्याग करके सुखी बनने के बदले बहुतेरे लोग तृष्णा में ही सुख मानते हैं, किन्तु वास्तव में तृष्णा से सुख का मार्ग ही बन्द हो जाता है। कम से कम तृष्णा होने पर तो सुख मिल ही नहीं सकता। जब किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती तब उस वस्तु में गति होती है और वह पास आती है। परन्तु जब तृष्णा उत्पन्न होती है तब वह वस्तु दूर भागती है।

कहने का आशय यह है कि सुख तृष्णा में नहीं, तृष्णा जीतने में है। हिंसा, असत्य आदि पाप भी तृष्णा से ही होते हैं। तृष्णा मिटाने से यह पाप भी रुक जाते हैं। इन पापों का रुकना ही आस्रव का निरोध है। आस्रव का निरोध करने से किस फल की प्राप्ति होती है, यह बतलाया जा चुका है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि तृष्णा को जीतने के लिए अपनी आवश्यकताएँ कम कर डालनी चाहिए। आवश्यकताएँ जितनी कम की जाएँगी, तृष्णा भी उतनी ही कम होती जायगी। अगर तुम इतना नहीं कर सकते तो आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अनावश्यक वस्तुओं की ही तृष्णा रोको। इससे भी बहुत लाभ होगा। आवश्यक वस्तुओं की तृष्णा से जितनी हानि होती है, उससे कहीं अधिक हानि अनावश्यक वस्तुओं की तृष्णा से होती है। पहले चौदह नियम चितारने का जो उपदेश दिया जाता था उसका उद्देश्य यही था कि अनावश्यक

वस्तुओं की तृष्णा रोकी जाय और आवश्यकताएँ कम की जाएँ। ऐसा करने से आत्मा को अनुपम सुख प्राप्त होता है क्रमशः तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अतएव अपनी आवश्यकताएँ घटाओ। ज्यों ज्यों आवश्यकताएँ घटाओगे त्यों-त्यों तृष्णा पर विजय प्राप्त होती जाएगी और परिणामस्वरूप सुख प्राप्त कर सकोगे। इससे विपरीत आवश्यकताएँ जितनी बढ़ाओगे तृष्णा भी उतनी ही बढ़ेगी और तृष्णा बढ़ने से दुःख भी बढ़ेगा। अतएव अगर सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी आवश्यकताएँ कम करो और तृष्णा को जीतो। तृष्णाविजय ही सुख का एकमात्र राजमार्ग है।

प्रत्याख्यान का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध होता है। भगवान् के इस [illegible] से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् ने भी मूलगुणों पर अधिक [illegible] दिया है, क्योंकि मूलगुणों से ही आस्रव का निरोध होता है। [illegible] का निरोध अहिंसा से होता है और असत्य का निरोध सत्य से [illegible] होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवों का निरोध भी मूलगुणों से [illegible] होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मूल[illegible] ख्यान पर अधिक बल दिया है। भगवान् ने कहा है कि [illegible] करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है और [illegible] सन्निकट पहुँचता है। भगवान् के इस कथन से [illegible] है कि प्रत्याख्यान आस्रवनिरोध के साथ [illegible] करता है। इस कथन के लिए प्रमाण [illegible] मोक्ष का अंग माना है। इस विषय में [illegible]

पच्चक्खाणे नि य संनिरुद्ध[illegible] निरुद्ध[illegible]।
पत्ताणता जीवा [illegible]

अर्थात्—मूलगुण और उत्तरगुणरूप प्रत्याख्यान का भाव पूर्वक सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि हृस का भाग कौवा खा जाय! अर्थात् प्रत्याख्यान भी दूसरे प्रयोजनों से किया जाय! मोक्ष के लिए प्रत्याख्यान करना हो तो भावपूर्वक ही करना चाहिए और मोक्ष के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रत्याख्यान ही आत्मा के लिए लाभदायक सिद्ध होता है और उसी से आस्रवों का निरोध हो सकता है। बहुतसे लोग प्रत्याख्यान करके लौकिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। इस प्रकार का प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक नहीं होता। वही प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक हो सकता है जो वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट हो और जो भावपूर्वक किया जाय। जो राग और द्वेष से अतीत हो चुके हैं वे वीतराग भगवान् जिस प्रत्याख्यान का उपदेश देते हैं, वह मोक्ष के लिए ही हो सकता है। वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट उस प्रत्याख्यान के आधार पर अनंत जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके है, करते हैं और करेंगे तथा शाश्वत सुख प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार प्रत्याख्यान मोक्ष का एक अंग माना गया है और इससे स्पष्ट है कि वह आस्रवों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत पापों को भी नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रत्याख्यान करने वाले को चारित्रशील कहा है और चारित्र का अर्थ पूर्वकृत कर्मों का नष्ट करना होता है। इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्याख्यान आस्रवद्वारों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत कर्मों को भी नष्ट करता है।

प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—प्रत्याख्यान से आस्रवद्वार बन्द होता है और इच्छा का निरोध होता है। इच्छा का निरोध प्रत्याख्यान

कि बकरी निकालन में ऊँट घुस जाय। अर्थात् छोटे पापों का तो प्रत्याख्यान किया जाय और उनके बदले बड़े पाप अपनाये जाएँ। अतएव प्रत्याख्यान करते समय विवेक रखना चाहिए। अविवेक पूर्वक प्रत्याख्यान करने से लाभ के बदले हानि अधिक होती है। वही प्रत्याख्यान प्रशस्त है जो इच्छा का निरोध करने के लिए किया जाता हो।

इच्छा का निरोध होने से क्या लाभ मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है—इच्छा का निरोध होने से जीव को किसी भी द्रव्य की तृष्णा या लालसा नहीं रहती। तृष्णा जीव के लिए वैतरणी नदी के समान दुःखदायक है, इसलिए तृष्णा को जीतो। तृष्णा को जीतने के लिए भगवान् ने मार्ग बतलाया ही है कि इच्छा का निरोध करो और इच्छा के निरोध के लिए प्रत्याख्यान करो। इच्छा का निरोध तृष्णा को जीतने का अमोघ उपाय है। आशय यह है कि प्रत्याख्यान से इच्छा निरोध होता है, इच्छा निरोध से तृष्णा मिट जाती है, तृष्णा मिटने से सताप का शमन हो जाता है। और सन्ताप के शमन से जीव को सुखशान्ति प्राप्त होती है। भगवान् ने जगत् के जीवों को सुख का यह मार्ग बतलाया है

कुछ लोग पूछते हैं कि प्रत्याख्यान करने से आत्मा संताप से किस प्रकार बच सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्याख्यान एक ऐसी दिव्य औषधि है कि उससे तत्काल आत्मा का सन्ताप शान्त हो जाता है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा —

मान लीजिए, किसी मनुष्य ने परस्त्री का त्याग किया। परस्त्री का त्याग करने से वह परस्त्री सम्बन्धी सन्ताप से बचा रहेगा। इसके विरुद्ध जो परस्त्री का त्यागी नहीं है, उसे परस्त्री मिले या न

मिल, फिर भी परस्त्री विषयक सन्ताप उसके हृदय को जलाता ही रहेगा। रावण को सीता न मिली पर सन्ताप तो मिला ही! काम की इस दशाओं का जो वर्णन किया गया है उससे ज्ञात हो सकता है कि रावण को किस प्रकार का सन्ताप था! परस्त्री का त्याग न होने से परस्त्री विषयक ऐसा सन्ताप होता है कि जिससे कुल, परिवार, राज्य, यश वगैरह मटियामेट हो जाते हैं। अगर परस्त्री का त्याग हो तो ऐसा अवसर ही क्यों आये? इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी सन्तापों से छुटकारा मिलता है। इस सन्ताप से बचने के लिए और सुखी बनने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। प्रत्याख्यान न करने से किस प्रकार का कष्ट होता है और परस्त्री का प्रत्याख्यान न करने से स्थिति कैसी खराब बन जाती है, इसके लिए नाथद्वारा के महंत का उदाहरण सामने ही है। प्रत्याख्यान न करने से इस लोक के व्यवहार की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है। अतएव अगर सुखी बनना है और प्रत्येक प्रकार के सन्ताप से बचना है तो प्रत्याख्यान करो। प्रत्याख्यान से आत्मा पाप से बच जायगा और सुखशान्ति का लाभ करेगा।

१८

चौदहवाँ बोल।

स्तव-स्तुतिमगल

परमात्मा की प्रार्थना हृदय का अज्ञान मिटाने के लिए ही करनी चाहिए। यही बात शास्त्रकार भी कहते हैं। शास्त्र में भी स्तुति प्रार्थना करने के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा गया है। वह प्रश्न और उसका उत्तर इस प्रकार है —

मूलपाठ

प्रश्न—थवथुइमगलेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—थवथुइमगलेण नाणदसणचरित्तबोहिलाभं जणेइ, नाणदसणचरित्तबोहिलाभमपन्ने य ण जीवे अंतकिरिय कप्पविमाणोववत्तिय आराहण आराहेइ ॥१४॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! स्तव और स्तुतिमंगल से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—एक श्लोक से लेकर सात श्लोकों में परमात्मा की जो प्रार्थना की जाती है वह स्तुति कहलाती है और शक्रस्तव आदि स्तव कहलाते हैं। स्तव-स्तुतिरूप मंगल करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी बोध का लाभ होता है। बोध का लाभ प्राप्त होने से जीव कल्पवासी देव होता है और फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन करके मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

स्तव-स्तुतिमंगल करने से जीव को जो लाभ होता है, उस पर विचार करने से पहले स्तव स्तुतिमंगल के अर्थ पर विचार करना उपयोगी होगा।

'थव' का अर्थ स्तव और 'थुइ' का अर्थ स्तुति है। स्तव में ऐसा नियम होता है कि स्तव अमुक प्रकार का ही होना चाहिए लेकिन स्तुति के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार स्तुति कर सकता है। जैसे—भगवान् का स्तव करते हुए कहा गया है—

नमोत्थु णं अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुग्मिनरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं,

मग्गदयाण, मग्गदयाण, जीवदयाण, बोहिदयाण, धम्म दयाण, धम्मदेसियाण, धम्मनायगाण, धम्मसारहीण, धम्म वरचाउरतचक्कवट्टीण, दीवो ताण, सरणगईपइट्ठाण, अप्पडि हयवरनाणदसणधराण, वियट्टछउमाण, जिणाण, जावयाण, तिन्नाण, तारयाण, बुद्धाण, बोहियाण, मुत्ताण, मोयगाण, सव्वन्नूण, सव्वदरिसीण, सिवमयलमरुयमणतमक्खयमव्वाब मपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेय ठाण सपत्ताण नमो जिणाण जियभयाण ॥

यह शक्रस्तव है। शक्रेन्द्र इसी स्तव द्वारा भगवान की प्रार्थना करता है, अत इस शक्रस्तव या शक्रेन्द्रस्तव भी कहते हैं। आज हम लोगों में पामर दशा व्याप गई है, इसीलिए हमारे सामने उत्तम वस्तु का भी आदर नहीं होता। शक्रेन्द्र जो प्रार्थना करता था वही प्रार्थना हमें प्राप्त हुई है, अत यह प्रार्थना बोलते समय हमें कितनी प्रसन्नता होनी चाहिए ? जो शब्द इन्द्र के मुख में से निकले थे, वही शब्द मेरे मुख से निकल रहे हैं, इस विचार से प्रार्थना करते समय हमारे अन्दर कितना उत्साह और कितना आह्लाद होना चाहिए ? लेकिन आज तो स्थिति ऐसी है कि मानो महाराणा प्रताप का भाला तो पड़ा है मगर उस उठाने वाला ही कोई नहीं है। इसी प्रकार शक्रेन्द्र द्वारा की गई प्रार्थना तो है, लेकिन उसे बोलने वालों में जो उत्साह चाहिए, वह बहुत थोड़े लोगों में ही पाया जाता है।

कहा जा सकता है कि शक्रेन्द्र द्वारा किया हुआ स्तव हमें किस लिए दिया गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र का कथन है कि आध्यात्मिक दृष्टि से शक्रेन्द्र की अपेक्षा भी श्रावक का पद

करता है और शक्रेन्द्र साधु साध्वियों को नमस्कार करता है। ऐसी स्थिति में शक्रेन्द्र का स्तव क्यों न दिया जाय तो किस दिया जाय? इस प्रकार के आधार पर आशंका हो सकती है कि यदि शक्रेन्द्र का बनाया साधु श्रावक का यह कैसा है या फिर साधु श्रावक का स्तवन शक्रेन्द्र को दिया जाना चाहिए था। यह शक्रेन्द्र इस में [illegible] का है? श्रावक द्वारा किया हुआ स्तवन इस किस प्रकरण में दिया गया है? यही बात लोगों को भी आती है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शक्रेन्द्र एक ही है और मनुष्य बहुत हैं। इसी कारण उसका किया हुआ स्तव इसमें दिया गया है, क्योंकि उसका स्तवन व्यवस्थित है। अगर मनुष्यों का किया हुआ स्तव इसमें दिया गया होता तो यह झगड़ा उत्पन्न हो जाता कि यह मेरा स्तवन है। इसी प्रकार मनुष्य का बनाया हुआ स्तवन मनुष्यों को दिया जाता तो भी इसी प्रकार का झगड़ा पैदा होता। अतएव इसमें शक्रेन्द्र का स्तव दिया गया है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में स्वार्थ सम्बन्धी भावना भी होती है और इस कारण मनुष्य के प्रायः प्रत्येक कार्य में इहलौकिक भावना चिपटी रहती है। मनुष्य के बनाये स्तव में इहलौकिक भावना भी आ सकती है।

शक्रस्तव में कहा गया है कि मैं अरिहन्त भगवान् को नमस्कार करता हूँ। इसके पश्चात् भगवान कैसे हैं यह बतलाया गया है। लेकिन इस स्तव के आरम्भ पर से यह शंका हो सकती है कि जब 'अरिहन्त' पद दिया है तो फिर 'भगवन्त' कहने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए [illegible] सूत्र की टीका में श्री मलयगिरि आचार्य ने कहा है—[illegible] नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार निक्षेपों में से [illegible] स्तवन भाव-अरिहन्त को ही करना है, इसी प्रकार [illegible] भगवन्त विशेषण भी लगाया गया है।

तुम्हारे लिए भी यही उचित है कि नाम, स्थापना और द्रव्य को छोड़कर भाव अरिहन्त का स्तव करो। भाव अरिहन्त का स्तव करने से क्या लाभ होता है, यह भगवान् ने बतलाया ही है।

मान लीजिए, किसी मनुष्य को लाख रुपये मिले और किसी मनुष्य को बुद्धि मिली। अब इन दोनों में से कौन बड़ा कहलाएगा? आज तो यह कहावत प्रचलित है कि बुद्धिमान् लखपति के यहाँ विद्वान् पानी भरते हैं। अर्थात् विद्वान् भी लखपति की नौकरी करते हैं। किन्तु नौकरी करने के कारण विद्वानों की बुद्धि का अनादर नहीं हो सकता। अगर कोई अज्ञानी किसी वस्तु का अनादर करता है तो उससे उस वस्तु का महत्व नहीं घट जाता। अगर बन्दरों की टोली में एक आदमी एक मुट्ठी बेर और एक मुट्ठी हीरे फेंके तो बन्दर हीरे छोड़कर बेर ही लेंगे। बन्दर हीरे का महत्व नहीं जानते, इस कारण हीरे नहीं लेते। मगर इसी कारण हीरा का महत्व और उसका मूल्य क्या कम हो जाता है? इसी प्रकार जो लोग संसार की कामना में फँसे हैं, वे स्तव द्वारा भी सांसारिक कामना ही पूरी करना चाहते हैं। इसी तरह वे भावस्तव का महत्व नहीं जानते किन्तु इस कारण भावस्तव का महत्व कुछ कम नहीं हो जाता।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह कि स्तव के साथ स्तुति शब्द का सम्बन्ध किस उद्देश्य से जोड़ा गया है? जब स्तव किया जाता है तो उसके साथ स्तुति करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी लोग स्तव नहीं कर सकते, मगर कल्याण सभी चाहते हैं। ज्ञानी जन यह चाहते हैं कि सभी का कल्याण हो, इसीलिए स्तुति के विषय में पूछा गया है।

उस श्रावक को चोर पर करुणा आई। वह चोर के पास जाकर उससे कहने लगा—'भाई! तुम्हारे ऊपर मुझे अत्यन्त दया है। मगर मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ?'

श्रावक का यह कथन सुनकर चोर प्रसन्न हुआ और मन ही मन कहने लगा—बहुतसे लोग इस रास्ते से निकले पर इस सरीखा दयालु कोई नहीं था।

ऐसे दुखी मनुष्य को देखकर तुम्हें उस पर करुणा उत्पन्न होगी या नहीं? ऐसी दु:खद अवस्था इस आत्मा ने न जाने कितनी बार भोगी होगी! इस प्रकार आज आत्मा जो करुणा दूसरे पर प्रकट कर रहा है सो न जाने कितनी बार स्वयं उस करुणा का पात्र बन चुका है। ऐसी अवस्था में भी आज लोगों के हृदय से करुणा भाव की कमी हो रही है। करुणा की कमी का खास कारण स्वार्थ भावना है। स्वार्थभावना जब हृदय में घर कर बैठती है तब करुणा मूर्त्ति माता में भी भेदभाव आ जाता है और उसमें से भी करुणा निकल जाती है। माता की भी जब ऐसी स्थिति हो सकती है तो स्वार्थभावना के कारण अगर दूसरों में भी दुखियों के प्रति करुणा न रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

सेठ के मीठे बोल सुनकर चोर को बड़ी प्रसन्नता हुई। सेठ ने उस चोर से कहा—'मैं तुम्हारी कुछ सेवा कर सकूँ तो कहो।' चोर बोला—'आपको और तो क्या कहूँ। हाँ, इस समय मैं बहुत प्यासा हूँ। पीने के लिए थोड़ा पानी दे दो।' सेठ ने कहा—'बहुत अच्छा। मैं अभी पानी लाता हूँ। राजा की ओर से मुझे जो दंड मिलना होगा सो मिलेगा, लेकिन मैं पानी लाने जाऊं और इतने ही समय में कदाचित् तुम्हारे प्राण पखेरू उड़ जाएँ तो तुम्हें न जाने

क्या गति मिलेगी। इस कारण तुम मेरा उपदेश सुनकर ध्यान में रक्खो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

चोर ने सेठ की बात मानना स्वीकार किया। सेठ ने उसे णमोकारमन्त्र सुनाया और कहा—मैं पानी लेकर आता हूँ, तब तक इस मन्त्र का जाप करते रहना। चोर ने पहले कभी यह मन्त्र नहीं सुना था और इस समय वह घोर संकट में था। उसे णमोकार मन्त्र याद नहीं रहा। वह उसके स्थान पर इस प्रकार कहने लगा—

आनू तानू कछू न जानूँ, सेठ वचन परमानू ॥

उसने इस प्रकार णमोकारमन्त्र का जाप किया। यह स्तव नहीं तो स्तुति तो हुई! चोर मर कर न जाने किस गति में जाता लेकिन स्तुति के प्रभाव से वह देव हुआ। यह स्तुति का ही प्रताप है।

कहने का आशय यह है कि नियमित शब्दों में या पद्यबद्ध जो हो वह स्तव है, और जिसके लिए कोई नियम विशेष नहीं है तथा जिसमें किसी भी प्रकार से हृदय के भाव प्रकट किये जाएँ वह स्तुति है। अगर आप स्तव नहीं कर सकते तो स्तुति करो, मगर जो करो भावपूर्वक ही करो। भावपूर्वक की गई स्तुति भी आत्मा का कल्याण करती है।

'थवथुइमंगल' अर्थात् स्तवस्तुतिमंगल शब्द के विषय में व्याकरण की दृष्टि से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि थुइ (स्तुति) शब्द स्त्र प्रत्ययान्त होने के कारण पहले आना चाहिए और थव (स्तव) शब्द बाद में। लेकिन शास्त्र में इससे विपरीत क्रम किस उद्देश्य से रक्खा गया है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार का यह कथन है कि यह आर्षवचन है।

व्याकरण के नियमों का पालन होना अनिवार्य नहीं है और पालन न होना अनुचित नहीं है। आर्षवचन पर व्याकरण के नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता। अलबत्ता अर्थ करते समय इस क्रम का ध्यान रखना चाहिए।

स्तव और स्तुतिमंगल करने से जीव को क्या लाभ होता है? इसके सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है—यह भावमंगल है। इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि स्तव और स्तुति भावमंगल के लिए करना चाहिए। किसी भी सांसारिक कामना से किया जाने वाला स्तव या स्तुति भावमंगल नहीं है। भावमंगलरूप स्तव या स्तुति सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है—स्तवस्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव को ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र जैनधर्म का सार है। अगर आप जैनधर्म के सारभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति करना चाहते हैं तो शास्त्र कहता है कि स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल करो। शास्त्र का यह कथन दृष्टि में रखते हुए आपसे बारम्बार यह कहा जाता है कि इस कलियुग में परमात्मा की प्रार्थना का शरण लो। हालांकि मैं जो प्रार्थना बोलता हूँ वह बालभाषा में है, इसलिए उसका स्तुति में समावेश होता है और इस प्रकार की स्तुति का फल भगवान् ने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि प्राप्त होना बतलाया है।

सच्चे हृदय से प्रार्थना करने वाला प्रार्थी, प्रार्थ्य (जिसकी प्रार्थना की जाय) के मनोरथ का अधिकारी बन जाता है। एकाग्र चित्त से ध्येय पर पहुँचने का ध्यान करने से ध्येय तक पहुँच सकते

हैं, इसी प्रकार सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर परमात्ममय बना जा सकता है।

भगवान् कहते हैं कि स्तव-स्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी बोधि प्राप्त कर सकता है। रत्नत्रयरूप बोधि प्राप्त करने से जीव अन्तक्रिया कर सकता है। अन्तक्रिया का सामान्य अर्थ है—अन्तिम क्रिया। अन्तिमक्रिया अर्थात् वह क्रिया जिसके बाद फिर कोई भी क्रिया न करनी पड़े। अथवा जिस क्रिया से भव का अन्त हो जाय और फिर कभी भव न धारण करना पड़े उसे अन्तक्रिया कहते हैं।

संसार में पुनः-पुनः जनमना और मरना भव कहलाता है। इस प्रकार के भव का अन्त हो जाना अन्तक्रिया है। अतएव स्तव स्तुतिरूप भावमंगल का फल इसी भव में मोक्ष जाना है। कदाचित् इसी भव में मोक्ष प्राप्त न हो तो जीव कल्पविमान में, अनुत्तरविमान में या नवग्रैवेयक वगैरह में जाता है। स्तव और स्तुतिमंगल करने से ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप बोधि का लाभ प्राप्त होने पर भी कभी कभी हृदय के भाव ठीक नहीं रहते, इस कारण इसी भव में मोक्ष नहीं मिलता। फिर भी ऐसा पात्र विश्रान्ति लेकर मोक्ष जाता है और विश्रान्ति लेने के लिए वह श्रेष्ठ विमान में ही जन्म लेता है।

उदाहरणार्थ—रेलवे के प्रथमश्रेणी के यात्री को कहीं विश्राम लेना हो तो उसे धर्मशाला या साधारण मुसाफिरखाने में विश्राम लेने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसे प्रथम श्रेणी (First Class) का विश्रान्तिगृह (Waiting Room) मिलता है। इस व्यावहारिक उदाहरण के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि प्राप्त करने वाले मोक्ष के मुसाफिर को अगर विश्राम लेना

पड़ता है तो वह कल्पविमान आदि में जन्म लेकर ही विश्राम करता है और फिर मोक्ष जाता है। अन्तक्रिया करने वाला प्रथम तो उसी भव में मोक्ष जाता है, अगर उसी भव में मोक्ष न गया तो भी वह अच्छी ही स्थिति प्राप्त करता है—अर्थात् कल्पविमान, ग्रैवेयक या अनुत्तरविमान में ही स्थिति के लिए रुकता है। वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य ही होता है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की श्रेष्ठ आराधना करके मोक्ष जाता है।

स्तव स्तुति रूप भावमंगल करने का ऐसा श्रेष्ठ फल मिलता है। अतएव प्रत्येक समय परमात्मा की प्रार्थना करते रहना चाहिए। भले ही मुख से परमात्मा का नाम लिया जाय या न लिया जाय, लेकिन हृदय में तो ध्यान बना ही रहना चाहिए। कितनेक लोग 'मुख में राम बगल में छुरी' की कहावत चरितार्थ करते हैं और फिर कहते हैं कि हमें राम का नाम लेने का या प्रार्थना करने का कोई फल ही नहीं मिला। लेकिन इस प्रकार खोटी प्रार्थना करने वालों को समझना चाहिए कि तुच्छ भावना के साथ की हुई प्रार्थना या स्तुति से इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। सच्चे अन्तःकरण से की गई प्रार्थना या स्तुति ही फलदायिनी सिद्ध होती है। अतएव सच्चे हृदय से, निष्कपटभाव से प्रार्थना या स्तुति करनी चाहिए। परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करना चाहिए? इसके लिए कहा गया है —

धर्मजिनेश्वर मुझ हिवडे बसो, प्यारा प्राण समान,
कबहूं न विसरूं चितारूं नहीं, सदा अखण्डित ध्यान,
ज्यों पनिहारी कुँभ न वीसरे, नटवो वृत्तनिदान,
पलक न वीसरे पदमणी पियु भणी, चकवी न वीसरे भान।

पनिहारिने मस्तक पर रोप रखकर बातें करती चली जाती हैं। पर क्या वे बातें करते समय खेप को भूल जाती हैं ? नट बांस पर खेल करता है परन्तु क्या वह अपने शरीर का समतुलन भूल जाता है ? पतिव्रता स्त्री अन्यान्य कार्यों में प्रवृत्त होने पर भी अथवा सकट में पड़ने पर भी क्या अपने पति को भूल जाती है ? सीता, द्रौपदी दमयन्ती आदि सतियाँ घोर कष्टों में पड़कर भी अपने पति का विसरी नहीं थीं। सच्ची स्त्री अपने पति को कदापि नहीं भूल सकती और न अन्य पुरुष का अपने हृदय में स्थान दे सकती है। इसी प्रकार सच्चा पति भी परस्त्री को अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकता।

सुना है कि गांधीजी ने अपनी पत्नी कस्तूरबा को उनकी बीमारी के समय एक पत्र लिखा था कि—'मैं कार्य में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण, बीमारी के समय भी तुम्हारे पास उपस्थित नहीं हो सकता। लेकिन मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि कदाचित् तुम्हारी मृत्यु हो जायगी तो मैं कदापि दूसरी पत्नी नहीं करूँगा। इस प्रकार मैं तुम्हारी मृत्यु का स्वागत करूँगा और अपने में किसी प्रकार की उदासीनता नहीं आने दूगा।'

आज तुम्हारे समक्ष ऐसा उच्च आदर्श उपस्थित है फिर भी तुम्हारे हृदय में कैसी कायरता आ गई है ! जिसमें कायरता होती है वह न तो किसी भी नियम का पालन कर सकता है और न किसी निश्चय पर दृढ़ ही रह सकता है। कायरों के हाथ में न कुछ रहता है और न रह ही सकता है। कायरों के हाथ में व्यावहारिक सत्ता भी तो नहीं रह सकती ! आज स्वराज्य की मांग की जाती है पर कायरों के हाथ में कौन स्वराज्य देगा और कौन रहने देगा ? इसी प्रकार भगवान् की भक्ति भी कायरों में और गुलामों में किस प्रकार टिक सकती है ?

आजकल लोग अपनी सन्तान में जान बूझकर कायरता भरते हैं। बालकों को बचपन में ही इस प्रकार दबाया जाता है कि वे दबते ही रहें। मगर लोग यह नहीं देखते कि उनकी इस करतूत के कारण बालक कितने कायर बन रहे हैं। इसी प्रकार पुरुष, स्त्रियों को दबाते हैं और कायर बनाते हैं। माताओं में कायरता होगी तो बालकों में कायरता आना स्वाभाविक है। जिस माता पिता में वीरता होती है, उन्हीं की सन्तान वीर बनती है। सिंहनी ही सिंह को जन्म देती है। इसी प्रकार वीर माता वीर पुत्र को जन्म देती है और कायर माता कायर सन्तान उत्पन्न करती है।

कायरता के साथ ही साथ नागरिक जनों में ऐसे कुसंस्कार घर कर बैठे हैं कि उनकी बात न पूछिए। जैसे कुसंस्कार नगरों में नजर आते हैं वैसे ग्रामों में क्वचित् ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं। ग्रामों में जैसी पवित्रता दिखाई देती है वैसी पवित्रता शहरों में शायद ही कहीं दीख पड़े।

पतिव्रता केवल अपने एक पति का ही चित्त प्रसन्न रखना चाहती है और वेश्या अनेक पुरुषों का चित्त प्रसन्न रखने की कोशिश करती है। इन दोनों में से आपकी दृष्टि में कौन बड़ा है? कहने को तो तुम पतिव्रता को ही बड़ी कहोगे मगर अपने कथन के अनुसार आचरण भी करते हो या नहीं? तुम पतिव्रता को इसलिए बड़ी मानते हो कि वह पतिव्रत का भलीभाँति पालन करती है, लेकिन यही बात तुम अपने लिए क्यों नहीं अपनाते? पतिव्रता स्त्री में सिनेमा की नटी के समान नाज नखरे नजर नहीं आते लेकिन संसार को टिकाये रखने की और गार्हस्थ्यजीवन को सुखी बनाने की जो शक्ति पतिव्रता में है, वह वेश्या या सिनेमा की नटी में नहीं है।

कहने का आशय यह है कि जैसे पतिव्रता के हृदय में प्रत्येक समय पति का ही ध्यान बना रहता है, उसी प्रकार तुम्हारे हृदय में प्रतिक्षण परमात्मा का ही ध्यान होना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अमुक इस प्रकार नहीं करता तो मैं ही ऐसा क्यों करूँ? तुम्हारे कान में कीमती मोती हैं और दूसरे के कान में नहीं है, इस कारण तुम मोती फेंक नहीं देते वरन् उन मोती को पहन कर अपने को भाग्यशाली समझते हो। व्यवहार में जब ऐसा विचार नहीं रखते हो तो फिर धर्म के कार्य में यही विचार क्यों नहीं रखते कि दूसरा कोई धर्म करे या न करे मैं तो धर्म करूँगा ही। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा धर्म करने में स्वतन्त्र है। अतएव कोई दूसरा धर्मकार्य करे या न करे तो भी अपने को तो धर्मकार्य करना ही चाहिए। जैसे दूसरों के पास मोती न होने पर भी लोग मोती पहनते हैं और अपने को भाग्यशाली मानते हैं, उसी प्रकार सद्गुणों के लिए भी यही विचार करना चाहिए कि दूसरा कोई सद्गुणों को अपनावे या न अपनावे, मैं तो अपनाऊँगा ही। सद्गुणों को अपनाने से अवश्य लाभ होता है। सद्गुणों का लाभ हुए बिना रह ही नहीं सकता। अतएव सद्गुण धारण करके परमात्मा की प्रार्थना करो तो तुम्हारा कल्याण ही होगा। धर्म समाजगत ही नहीं, व्यक्तिगत भी है। अतएव जो धर्म का पालन करेगा उसी को लाभ होगा। धर्म सदैव कल्याणकारी है। धर्म को जीवन में स्थान देने से कल्याण अवश्य होगा।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी बोधि की प्राप्ति स्तव स्तुति रूप मंगल से होती है, यह बात पहले कही जा चुकी है। बोधि की प्राप्ति होना संपूर्ण जैन धर्म की प्राप्ति होने के बराबर है। इस प्रकार स्तव और स्तुति रूप मंगल से संपूर्ण जैनधर्म की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

भत्तिए जिणवराण परमाए खीणदोसाण ।
आरुग्गबोहिलाभ, समाहिमरण च पावेंति ॥

अर्थात् जिनके राग और द्वेष क्षीण हो गये हैं, उन जिनवरों की परमभक्ति करने से जीव मशय आदि दोषों से रहित सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का लाभ करता है और अन्त में समाधिमरण पाता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि से भवभ्रमण का अन्त होता है अतः अन्तक्रिया का फल प्राप्त करता है।

अन्तक्रिया का अर्थ बतलाते हुए कहा जा चुका है कि जिस क्रिया द्वारा भव या कर्म नष्ट होते हैं वह क्रिया अन्तक्रिया कहलाती है। 'इस प्रकार अन्तक्रिया करता है, यह कहने का अर्थ यह हुआ कि स्तव और स्तुति रूप भावमगल करने वाला जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ करके मुक्ति प्राप्त करता है। मुक्ति का कारण अन्तक्रिया ही है, इसलिए वह अन्तक्रिया भी कहलाती है।

शास्त्रकारों ने सामग्री के भेद से चार प्रकार की अन्तक्रिया बतलाई है। जैसा कि श्री स्थानागसूत्र में कहा है —

चत्तारि अतकिरियाओ पएणत्ताओ, तजहा—त खलु इमा पढमा अतकिरिया अप्पकम्मपचाएया वि भवई, से ण मुंडेभवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, सजमबहुल, सवरबहुल, समाहिबहुले, लूहे, तीरट्ठी, उवहाणव, दुक्खक्खवे, तवस्सी, तस्स ण णो तहप्पगारे तवे भवई, णो तहप्पगारा वेयणा भवई, तहप्पगारं पुरिसजाए दीहेण परियाएण सिज्झई,

है, बुज्झई अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करके तत्त्वबोध पाता है, मुच्चइ अर्थात् भवभ्रमण कराने वाले कर्मों को नष्ट कर मुक्त होता है और परिनिव्वाइ अर्थात् समस्त उपाधियों से छुटकारा पाकर शान्त हो जाता है। ऐसा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त पुरुष समस्त दुःखों का अन्त कर डालता है अर्थात् सब दुःखों से रहित हो जाता है।

प्रथम अन्तक्रिया के लिए शास्त्रकारों ने भरत चक्रवर्त्ती का उदाहरण दिया है। उनका कथन है कि प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के सबसे ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्त्ती पूर्वभव में लघुकर्मी होकर सर्वार्थसिद्धविमान में गये थे और फिर वहाँ से च्युत होकर मनुष्यलोक में भरत चक्रवर्त्ती हुए तथा केवलज्ञान प्राप्त करके, एक लाख पूर्व तक संयम पालकर सिद्धिगति को प्राप्त हुए थे। यह पहली अन्तक्रिया का स्वरूप हुआ।

पहली और दूसरी अन्तक्रिया में यह अन्तर है कि दूसरी अन्तक्रिया में तप और वेदना प्रबल होती है किन्तु दीक्षा कम होती है अर्थात् अल्प प्रव्रज्या से ही मोक्ष हो जाता है। गजसुकुमार मुनि ने यह अन्तक्रिया की थी।

तीसरी अन्तक्रिया में दीक्षा भी लम्बे समय तक पाली जाती है और कष्ट भी बहुत सहन करना पड़ता है, तब मोक्ष प्राप्त होता है। जैसे सनत्कुमार चक्रवर्त्ती को दीर्घकाल तक संयम का पालन करने के बाद मोक्ष मिला था। सनत्कुमार चक्रवर्त्ती की मोक्षप्राप्ति के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। किसी आचार्य के मत से वह मोक्ष गये हैं और किसी के मत से देवगति में गये हैं।

चौथी अन्तक्रिया पहली के ही समान है। उसमें केवल यही अन्तर है कि चौथी अन्तक्रिया में अल्पकाल की और अल्प

वह की पीड़ा से ही सिद्धि प्राप्त होती है। जैसे मरुदेवी माता को हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे मोक्ष मिल गया था।

माता मरुदेवी का जो उदाहरण दिया गया है, उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले मुदित होना आदि जो गुण बतलाए गए हैं, वे मरुदेवी में कहाँ थे? इस प्रश्न का उत्तर टीकाकार ने यह दिया है कि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में पूर्ण समानता नहीं खोजना चाहिए।

भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र में जो उत्तर दिया है, उसमें ऐसा पाठ आया है—

अवसिरिय कप्पविमाणोववत्तिय आराहणं आराहेइ

कतिपय आचार्य इस पाठ का अर्थ यह करते हैं कि [illegible] सिरिया' शब्द में का 'अ' अक्षर प्रश्लेष होकर 'अ[illegible]' शब्द बन जाता है, जिसका अर्थ यह है कि जीव [illegible] नहीं जाता किन्तु परम्परा से मोक्ष प्राप्त करता है। [illegible] अर्थ यह हुआ कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की [illegible] देवलोक या विमान में उत्पत्ति होती है [illegible] अनुत्तर विमान में उत्पत्ति होती है और फिर [illegible] मोक्ष पाता है।

कहने का आशय यह है कि स्तव [illegible] संपूर्ण जैनधर्म की प्राप्ति होती है, फिर [illegible] भिन्न या परम्परा से, किन्तु [illegible] संपूर्ण जैन धर्म की प्राप्ति तो स्तव [illegible] है। अतएव एकान्त भाव से स्तुति [illegible] चाहिए। अगर बड़ी स्तुति या [illegible] परमात्मा की स्तुति में कहे [illegible]

पुरुषों क प्रति अपन भाव समर्पित कर देन चाहिए। जैसे चन्दन-बाला न भगवान् महावीर को उड़द के छिलके दान दिये थे। यहाँ विचारणीय यह है कि कीमत उड़द के छिलकों की थी या भावों की? वास्तव में कीमत उड़द क छिलकों की नहीं, हृदय के भावों की थी। अतएव तुम भी भगवान् को अपन भाव समर्पित कर दो। तुम्हें सब प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है, फिर अपने भाव भगवान् क प्रति क्या अर्पित नहीं करत ?

बहुत स लोग कहा करते हैं—अभी धर्मकरणी करक क्या करें? आजकल मोक्ष तो मिलता है नहीं, मिलता है सिर्फ स्वर्ग, सो वह बहुत धर्मक्रिया स भी मिल सकता है और थोड़ी धर्मक्रिया से भी मिल सकता है। ऐसा कहने वालों स ज्ञानी जनों का कथन है कि ऐसा समझकर धर्मक्रिया करने स आलस्य करना भूल है। धर्मक्रिया करते समय इसी भव में मोक्ष मिलेगा, ऐसा मानना ही हितकर है। इसी भव में मोक्ष न मिला तो न सही, धर्मक्रिया करन से तुम मोक्ष के पथिक तो बनोगे ही। अतएव धर्मक्रिया करन में प्रमाद मत करो। शास्त्र का कथन है कि जीव अगर आराधक हो फिर भी इसी भव में मोक्ष न जाय तो पन्द्रहवें भव में तो अवश्य ही मोक्ष जायगा। अतएव आराधक बनन में प्रमाद करना योग्य नहीं है। तुम्हें जो सामग्री मिली है, उसका उपयोग धर्मक्रिया में करना ही आराधक होन का मार्ग है। परमात्मा की भक्ति करना, स्तुति करना सरल से सरल काम है। अगर इतना सरल काम भी तुम न कर सको तो दूसरे काम कैसे कर सकोगे?

इस संसार में एक तो शुद्धता है और दूसरी अशुद्धता है। अशुद्धता स निकल कर शुद्धता में प्रवेश करना ही हमारा कर्त्तव्य है। मान लीजिए, आपके गाँव में दो तालाब हैं। एक तालाब का

पानी मलीन और दूसरे का निर्मल है। ऐसी स्थिति में आप किस तालाब में स्नान करना चाहेंगे ? आप यही कहेंगे कि निर्मल तालाब में ही स्नान करना उचित है। इस विषय में आप भूल नहीं करते। मगर यही बात अपने हृदय और आत्मा के विषय में सोचो। आप अपने हृदय में शुद्ध विचार लाकर भी उसमें आत्मा को स्नान करा सकते हैं और अशुद्ध विचार लाकर भी आत्मा को उसमें नहला सकते हैं। तो फिर अगर आप शुद्ध विचार लाकर उसमें आत्मा को स्नान कराएँ तो आपकी क्या हानि है ? क्या ऐसा करने के लिए कोई धर्मशास्त्र निषेध करता है ? चित्तशुद्धि के लिए सभी कहते हैं, फिर चित्त को शुद्ध करके उसमें आत्मा को क्यों स्नान नहीं कराते ? भगवान् ने कहा है—स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव आराधक होता है और मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् के इस कथन पर विश्वास रखकर स्तव और स्तुतिरूप मंगल का अभ्यास कर देखो तो पता चलेगा कि स्तव स्तुतिमंगल से कितना अधिक लाभ होता है।

मुझे बचपन से ही णमोकार मन्त्र पर विश्वास था। जब मैं समझता कि मुझ पर किसी प्रकार का संकट आ पड़ा है, तब मैं इस महामन्त्र का स्मरण करके शरण लेता था। णमोकार मन्त्र का शरण लेने से मेरा संकट मिट भी जाता था। लोग कहते हैं—बालक णमोकारमन्त्र में क्या समझे ! मगर शास्त्र का कथन है कि गर्भ का बालक भी श्रद्धावान् होता है। जब गर्भस्थ बालक भी श्रद्धावान् होता है तो चलता फिरता बालक श्रद्धावान् क्यों नहीं हो सकता ? गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मेरी रम्भा धाय ने परमात्मा के नाम पर विश्वास का जैसा प्रभाव मेरे ऊपर बचपन में डाला था, वैसा प्रभाव अनेक ग्रन्थ पढ़ने पर भी नहीं पड़ सकता

इस प्रकार बालकों पर भी परमात्मा के नाम का प्रभाव पडता है और व भी परमात्मा के नाम पर विश्वास करते हैं। हाँ, उन्हें विश्वास कराने की आवश्यकता रहती है। क्या आप अपने बालकों के लिए ऐसा प्रयत्न करते हैं कि व परमात्मा क नाम पर विश्वास रक्खें ? तुम बालकों को फैंसी कपड़े तो पहनाते हो मगर उनसे बालकों की आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्म कल्याण तो धर्म पर श्रद्धा रखने से ही होता है। तुम अपने बालकों को धन दौलत आदि की विरासत तो सौंपते हो मगर साथ ही साथ अपने धम की विरासत भी सौंपो। ऐसा करने से उनका भी कल्याण होगा और तुम्हारा भी कल्याण होगा।

व्याख्यान

भगवान् के इस उत्तर पर विचार करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि काल का अर्थ क्या है ?

काल एक जगत्प्रसिद्ध वस्तु है किन्तु उसे समझने वाले और उसका महत्त्व समझ कर उससे लाभ उठाने वाले लोग बहुत कम हैं। काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए और काल से लाभ उठाने के लिए ही व्यवहार में ज्योतिष शास्त्र बना है। काल को समझने के लिए ही घड़ी तथा इसी प्रकार के अन्य साधन निकले हैं। शास्त्र में कहा है कि काल भी छह द्रव्यों में से एक द्रव्य है। किन्तु काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं वरन् औपचारिक द्रव्य है। पचास्ति काय की षड्गुणहानि वृद्धि का माप काल कहलाता है, अतएव काल स्वतन्त्र द्रव्य न होकर औपचारिक द्रव्य है।

काल शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है-भावसाधन घञन्त से, कर्मसाधन घञन्त से और करणसाधन घञन्त से। भाव साधन घञन्त से काल की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—'कलन काल' अर्थात् गणना को काल कहते हैं। 'कल्यते य स काल' अर्थात् जिसकी गणना की जाय वह काल है, यह काल शब्द की कर्मसाधन घञन्त व्युत्पत्ति है। करणसाधन घञन्त की दृष्टि से काल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—'कल्यतेऽनेन इति काल' अर्थात् जिसके द्वारा गणना की जाय वह काल है। इस प्रकार काल की व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न प्रकार से की जाती है। इन सब व्युत्पत्तियों का संग्रह करते हुए एक गाथा में कहा गया है—

> कलणं पज्जायाणं कलिज्जए तेण वा जओ वत्थु।
> कलयंति तयं तम्मि व समयाइ कलासमूहो वा॥

इस गाथा का भाव यह है कि यह नया है, यह पुराना है, इत्यादि व्यवहार को भी काल ही कहते हैं। समय, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर आदि के व्यवहार का कारण भी काल ही है। यह एक मास का है, यह दो महीने का है, यह शरदऋतु का है, इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा किया जाता है, वह काल है। ज्ञानी जन जिस समय कहते हैं वह भी काल ही है। समय, कला आदि जिसका काल से विभाग नहीं हो सकता-का समूह भी काल ही कहलाता है।

अन्य दर्शनकारों ने काल को बहुत अधिक महत्व दिया है। यहाँ तक कि कोई कोई दर्शनकार तो उसे ईश्वर के समान मानते हैं। उनका कथन है कि यह सारा संसार काल के गाल में समाया हुआ है। काल ही विश्व की सृष्टि करता है। किन्तु जैनदर्शन अनेकान्तवाद का समर्थक है। वह किसी अपेक्षा से ऐसा मानता है और दूसरी अपेक्षा से इस कथन का निषेध भी करता है। इस दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार गणना को या जिसके द्वारा गणना की जाय उसे अथवा जिसकी गणना की जाय उसे काल कहते हैं। काल द्रव्य रूप भी है और पर्याय रूप भी है। काल का पर्याय-समय आदि, जिनका दूसरा भाग नहीं हो सकता, वह भी काल ही कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो वह भी काल है।

काल की सहायता के बिना वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तु को ग्रहण करने में काल का विचार करना ही पड़ता है। इसी प्रकार विवाह सगाई आदि में भी काल की सहायता ली जाती है। तात्पर्य यह है कि समस्त वस्तुओं का माप काल द्वारा ही किया जाता है।

काल तो प्रवर्त्त ही रहा है परन्तु भगवान से जो प्रश्न पूछा गया है, वह यह है कि काल का प्रतिलेखन करने से अर्थात् विचार करने में क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न से यह स्पष्ट हो जाता है कि काल का विचार करना आवश्यक है। काल का प्रतिलेखन न करने से बहुत अनर्थ होते हैं। काल कैसा है और कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस बात का विचार न करने से अत्यन्त हानि होती है। काल के विरुद्ध व्यवहार करने के कारण हानि होना स्वाभाविक है।

कितने ही लोग ऐसे हैं जो किसी काम के बिगड़ जाने पर सारा दोष काल के मत्थे मढ़ देते हैं। मगर यह उनकी भूल है। उसमें काल के विरुद्ध कार्य करने वाले का दोष है, काल का नहीं। काल खराब हो तो उसका सुधार भी किया जा सकता है। काल का सुधार अगर संभव न होता तो शास्त्र में उसका उपक्रम और उसके द्रव्य, क्षेत्र काल, और भाव, यह चार भेद न बतलाये गये होते। काल का भी उपक्रम होता है, फिर भले ही वह परिकर्म अर्थात् सुधार के रूप में हो या वस्तुविनाश के रूप में हो। यद्यपि काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु उद्योग करने से काल में सुधार किया जा सकता है।

इस काल में कौन सा कार्य करना चाहिए और कौन सा कार्य नहीं करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। काल को दृष्टि में रखकर रहन-सहन और खानपान में भी परिवर्त्तन करना आवश्यक हो जाता है। काल को दृष्टि के सन्मुख रखकर उचित परिवर्त्तन न करने से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। काल तो अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता ही जाता है, मगर काल का विचार न रखने वाला और अकाल कार्य करने वाला अवश्य दुखी

कहता है कि हम पक्खी संवत्सरी की आराधना सूत्रोक्त तिथि आदि के आधार पर करते हैं तो उनका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि वर्त्तमान में सूत्रों द्वारा यह निर्णय नहीं हो सकता कि किस प्रकार या किस रीति से ज्योतिष संबंधी गणना करनी चाहिए या तिथि माननी चाहिए। आज कल लौकिक और जित व्यवहार के आधार पर पक्खी संवत्सरी आदि की आराधना की जाती है, वह ठीक है और एक प्रकार से सूत्रसम्मत है। पक्खी संवत्सरी आदि का आराधन इसी प्रकार करना उचित है।

शास्त्र में पाँच प्रकार के व्यवहार कहे गये हैं—(१) आगम व्यवहार (२) सूत्र व्यवहार (३) आणा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार और जित व्यवहार। जब आगम व्यवहार वगैरह कम होते जाते हैं या हो जाते हैं तब पाँच आचार्य मिलकर जो नियम बनाते हैं, उसे जितव्यवहार कहते हैं। पक्खी संवत्सरी आदि जितव्यवहार के अनुसार ही करनी चाहिए किन्तु आगम के नाम पर इस बात को घोटकर चिकना करना उचित नहीं है। पक्खी या संवत्सरी के दिन तो अपने पापों की ही आलोचना करनी होती है तो फिर इस बात को लेकर निकम्मे झगड़े खड़े करना कैसे उचित कहा जा सकता है?

टीकाकार का कथन है कि काल के अनुसार ही वस्तु का ग्रहण हो सकता है और काल के अनुसार ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ—साधु दिन रहते ही भोजन कर सकते हैं, रात्रि के समय नहीं, परन्तु दिन कितना बड़ा होता है और कब से कब तक दिन समझना चाहिए, इसका कोई एकान्त निश्चय नहीं हो सकता। अतएव यही कहा जाता है कि कालानुसार जितने मुहूर्त्त का दिन हो तदनुसार दिवस की मर्यादा में ही साधु भोजन कर सकते हैं, क्योंकि

चल सकता है ? शास्त्र में जितव्यवहार ही माननीय बतलाया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

> धम्म जिय च ववहार बुद्धेहायरियं सया ।
> तमायरन्तो ववहारं गरहं नाभिगच्छई ॥

अर्थात्—धर्म के लिए आचार्यों ने मिलकर जो जिताचार बनाया है, उसी जिताचार के अनुसार व्यवहार करने वाला कदापि निन्दापात्र नहीं बनता, बल्कि आराधक ही रहता है।

इस कथन के अनुसार पाँच महापुरुष मिलकर, निस्पृहता पूर्वक विचार करके जो नियम निर्णय करते हैं वह जिताचार कहलाता है और जिताचार के अनुसार चलना उचित है। आजकल के लोगों की बुद्धि में उत्पात भरा रहता है अतएव संवत्सरी वगैरह के नाम पर बेकार क्लेश खड़ा किया जाता है। बुद्धिमान् पुरुषों को इस प्रकार के क्लेश से बचना चाहिए।

कालप्रतिलेखन करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि कालप्रतिलेखन से जीव के ज्ञानावरण आदि कर्मों की निर्जरा होती है।

भगवान् ने कालप्रतिलेखन का कितना लाभ बतलाया है ? अतएव कालप्रतिलेखन करना चाहिए और जिस काल में जो काम करने योग्य हो उस काल में वही कार्य करना चाहिए। कालानुसार कार्य करने से आत्मा का कल्याण होता है।

सोलहवाँ बोल ।

प्रायश्चित्त

शास्त्र में कालप्रतिलेखन के विषय में विचार किया गया है। अगर कालप्रतिलेखन करने में कोई त्रुटि रह गई हो अर्थात् अकाल में स्वाध्याय आदि किया हो तो प्रायश्चित्त करना चाहिए। अतएव यहां प्रायश्चित्त पर विचार किया जाता है। प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणेइ, निरइयारे यावि भवइ, सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं आयारफलं च आराहेइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—प्रायश्चित्त करने से पाप की विशुद्धि होती है और जीव व्रतों में लगे अतिचारों से रहित हो जाता है, शुद्ध मन से प्रायश्चित्त ग्रहण करके कल्याणमार्ग और फल की भी विशुद्धि करता है तथा क्रमशः चारित्र एवं चारित्र के फल (मोक्ष) का आराधन कर सकता है।

व्याख्यान

सन्मति प्राप्त करना या पाप का छेदन करना एक ही बात है। भले ही इनमें शाब्दिक अन्तर हो मगर वास्तविक अन्तर नहीं है। प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का छेदन करना या चित्त की शुद्धि करना है। पाप का छेदन करना, चित्त की शुद्धि करना अथवा सन्मति प्राप्त करना एक ही बात है।

प्रायश्चित्त के प्रश्न के पहले कालप्रतिलेखन का प्रश्न आया है। स्वाध्याय आदि के लिए काल का प्रतिलेखन न करने से या स्वाध्याय न करने से अथवा अकाल में स्वाध्याय करने से प्रायश्चित्त आता है।

जो मनुष्य कोई कार्य करता है, उसी के काम में गुण या दोष हो सकता है। काम ही न करने वाले के काम में गुण-दोष कहाँ से आएगा! घोड़े पर सवारी करने वाला ही कभी गिर सकता है। जो कभी घोड़े पर सवार ही नहीं होता, उसके लिए गिरने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसी प्रकार जो स्वाध्याय करता है, उसी को स्वाध्याय सम्बन्धी अतिचार लग सकता है और अतिचार को दूर करने के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। सब व्युत्पत्तियों को बतलाने का समय नहीं है, अतएव संक्षेप में सिर्फ इतना ही कहता हूँ कि 'प्राय' और 'चित्त' इन दो शब्दों के मेल से प्रायश्चित्त शब्द बना है। टीकाकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है–

प्रायः पाप निजानीयात् चित्त तस्य विशोधनम्।

प्राय का अर्थ है-पाप। अत्यन्त रूप से आत्मा का अतिचार या दोषों में गमन करना पाप है और 'चित्त शुद्धौ' धातु से चित्त शब्द बना है, जिसका अर्थ विशोधन है। इस प्रकार जिस अनुष्ठान से या व्रत से पाप का विशोधन हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। इस प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

प्रायश्चित्त चार प्रकार का है—(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव से। नाम प्रायश्चित्त और स्थापना प्रायश्चित्त तो केवल उच्चार या कथन रूप ही है। द्रव्य प्रायश्चित्त लोकरंजन के लिए किया जाता है। वह एक प्रकार से लोक दिखावा ही है। हृदय के पापों को नष्ट करने की भावना से जो व्रत या अनुष्ठान किया जाता है वह भाव प्रायश्चित्त है।

प्राय शब्द का अर्थ 'विशेष' भी है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि विशेष पाप किसे कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सूक्ष्म अर्थात् जिसका प्रतीकार न किया जा सके उस अप्रतिकारी पाप का प्रायश्चित्त नहीं होता, वरन् जो पाप प्रतिकारी है अर्थात् जिस पाप का प्रतीकार करना शक्य है और जो कार्य शास्त्र में निषिद्ध ठहराया गया है, उसी पाप कार्य का प्रायश्चित्त

होता है। यहाँ विशेष शब्द से उसी पाप को ग्रहण करने का संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ-कोई कोई प्राणातिपात ऐसा होता है, जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। जैसे, शास्त्रीय विधि के अनुसार एक जगह से पैर उठाकर दूसरी जगह रखने से भी हिंसा होती है। किन्तु इस प्रकार की हिंसा का निवारण नहीं हो सकता। यह हिंसा शरीर के साथ लगी हुई है-जब तक शरीर तब तक यह हिंसा भी अवश्यभावी है। अतएव इस प्रकार की हिंसा का प्रायश्चित्त भी नहीं है। एक हिंसा शास्त्र द्वारा निषिद्ध है और दूसरी शरीर के साथ लगी है। दोनों प्रकार की हिंसा में से शास्त्रनिषिद्ध हिंसा का तो प्रतीकार हो सकता है परन्तु शरीर के साथ लगी हुई हिंसा का प्रतिकार नहीं हो सकता। अतएव शरीर के साथ लगी हिंसा का प्रायश्चित्त भी नहीं है।

शास्त्र में जिन पापों का वर्णन है, उन सब के दो कारण हैं। कोई-कोई कप्पिया पाप हैं और कोई कोई दप्पिया पाप हैं। अर्थात् कोई पाप तो लाचार होकर करना पड़ता है और कोई पाप अहंकार से किया जाता है। पाप भले ही लाचार होकर किया जाय या अहंकार से किया जाय, पर पाप तो दोनों ही हैं। पाप का प्रकार कोई भी क्यों न हो, मगर पाप आखिर है तो पाप ही। इस प्रकार के पाप के लिए भावप्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है-भावप्रायश्चित्त द्वारा जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'पाय' या 'प्राय' का अर्थ पाप है और प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का विशोधन करना है। प्रायश्चित्त करने से पाप का विशोधन होता है और जीव निरतिचार बनता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की मर्यादा

का उल्लंघन होना अतिचार कहलाता है। प्रायश्चित्त से अतिचार मिट जाता है और जीव निरतिचार बनता है।

भगवान द्वारा दिये गये उत्तर में यह पाठ आया है—

'सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ।

इस पाठ का अर्थ यह है कि आगमोक्त विधि से प्रायश्चित्त करने वाला जीव कल्याणमार्ग और उसके फल का विशोधन करता है।

सम्यग्दर्शन मार्ग है और ज्ञानादि गुण उसका फल हैं. प्रायश्चित्त से यह मार्ग और उसके फल की विशुद्धि होती है। मगर यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान से दर्शन होता है या दर्शन से ज्ञान होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निश्चय से तो दर्शन से ज्ञान होता है परन्तु व्यवहार में ज्ञान से दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यहाँ निश्चय नय को दृष्टिगोचर रखकर कहा गया है कि दर्शन मार्ग है और ज्ञान उसका फल है, क्योंकि दर्शन से रहित ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता। जिस ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन हो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, अन्यथा वह अज्ञान है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर में ऐसा पाठ आया है—

'आयारं च आयारफलं च आराहेइ।'

अर्थात् जीव आचार और उसके फल का भी आराधक बनता है। आचार अर्थात् संयम का फल मोक्ष है। इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाला दर्शन की भी विशुद्धि करता है, ज्ञान की भी विशुद्धि करता है और आचार तथा उसके फल मोक्ष का भी आराधक बनता है।

प्रायश्चित्त शब्द इतना व्यापक है कि उसे समस्त दर्शनकारों ने स्वीकार किया है। जैनशास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि होती है। श्रीस्थानांगसूत्र में, तीसरे स्थानक में प्रायश्चित्त के तीन भेद, आठवें स्थानक में आठ भेद, नौवें स्थानक में नौ भेद और दसवें स्थानक में दस भेद बतलाये हैं। इन सब का सार यही है कि प्रायश्चित्त करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अतः प्रायश्चित्त करना चाहिए। अन्य दार्शनिकों ने भी प्रायश्चित्त को स्वीकार किया है, पर जैनशास्त्र कहते हैं कि प्रायश्चित्त द्वारा पाप का विशोधन करो। पाप के सन्ताप से बचते रहने की इच्छा करना और पाप का त्याग न करना प्रायश्चित्त नहीं है। पाप के परिणाम से अर्थात् पाप के दंड से घबराने की आवश्यकता नहीं, वरन् पाप से भयभीत होना चाहिए।

कितनेक दर्शनकार कहते हैं—पाप तो होता ही रहता है। पाप से बचना शक्य नहीं है अतः पाप के परिणाम से बचने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिए। मगर जैनदर्शन कहता है कि पाप के फल से बचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अन्य दर्शनकारों का कथन और उसकी असंगतता, आजकल के युगप्रवर्त्तक माने जाने वाले गांधीजी की आत्मकथा का उदाहरण देकर बतलाता हूँ।

गांधीजी जब विलायत जा रहे थे तब राजकोट में उन्होंने अपनी माता के आग्रह से अपने सम्प्रदाय के बेचरजी स्वामी नामक जैन-साधु के समक्ष मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग किया था। इस त्याग के प्रभाव से गांधीजी विलायत में मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओं के सेवन के पाप से बच सके थे। विलायत से भारत लौटने

के पश्चात वह फिर दक्षिण अफ्रिका गये थे। वहाँ का अनुभव लिखते हुए गांधीजी कहते हैं—

कोट्स नामक ईसाई ने ईसाई धर्म के विषय में मुझसे बहुत वर्क वितर्क किया और मैंने भी उसके सामने बहुतरी दलीलें दीं। मगर मेरी दलीलें उसकी समझ में नहीं आईं, क्योंकि उसे मेरे धर्म पर अश्रद्धा ही थी। वह तो उलटा मुझे ही अज्ञान-कूप से बाहर निकालना चाहता था। उसका कहना था कि दूसरे धर्मों में भले ही थोड़ा-बहुत सत्य हो मगर पूर्ण सत्य स्वरूप ईसाई धर्म स्वीकार किये बिना तुम्हें मुक्ति नहीं मिल सकती। इसु की कृपादृष्टि के बिना पाप धुल नहीं सकते और तमाम पुण्यकार्य निरर्थक हो जाते हैं। जब मैं कोट्स की दलीलों से प्रभावित न हुआ तो मेरा परिचय ऐसे ईसाइयों के साथ कराया गया जिन्हें वह अधिक धर्म चुस्त समझता था। जिनके साथ उसने मेरा परिचय कराया उनमें एक प्लीमथ ब्रदरन का कुटुम्ब था। प्लीमथ ब्रदरन नामक एक ईसाई सम्प्रदाय है। कोट्स ने कुछ ऐसे परिचय कराये जो मुझे बहुत अच्छे लगे। उनके परिचय से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग ईश्वर से डरते थे, मगर इस परिवार ने मेरे सामने यह दलील रक्खी कि तुम हमारे धर्म की खूबी समझ नहीं सकते। तुम्हारे कहने से हम जान सकते हैं कि तुम्हें क्षण क्षण अपनी भूल का विचार करना पड़ता है और सुधार करना पड़ता है। अगर भूल न सुधरे तो तुम्हें पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रियाकांड से तुम कब छुटकारा पाओगे और कब तुम्हें शान्ति मिल सकेगी। हम सब पापी हैं, यह तो तुम मानते ही हो। अब हमारी मान्यता देखो, वह कितनी परिपूर्ण है। हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी आखिर मुक्ति तो हमें चाहिए ही। हम पाप का बोझ कैसे उठा सकते हैं। इसलिए

हम उस पाप का बोझ ईसु पर लाद देते हैं। ईसु ईश्वर का एकमात्र निष्पाप-पुत्र है। ईसु तो ईश्वर का वरदान है। जो ईसु को मानता है, उसका पाप ईश्वर धो डालता है। यह ईश्वर की अगाध उदारता है। ईसु की मुक्ति सम्बन्धी योजना हमने स्वीकार की है, अतएव हमें हमारे पाप लगते ही नहीं हैं। पाप तो होता ही है। इस जगत् में पाप किये विना रह ही किस प्रकार सकते हैं? अतएव इसु ने सारे संसार के पाप एक ही बार प्रायश्चित्त करके धो डाले हैं। इसु के इस महा बलिदान को जो लोग स्वीकार करते हैं, वे उस पर विश्वास करके शान्ति लाभ कर सकते हैं। कहाँ तुम्हारी अशान्ति और कहाँ हमारी शान्ति!

यह दलील मेरे गले न उतरी। मैंने नम्रतापूर्वक उन्हें उत्तर दिया—अगर सर्वमान्य ईसाइधर्म यही है तो मुझे वह नहीं चाहिए। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता, मैं पापवृत्ति से और पाप कर्म से मुक्त होना चाहता हूँ।

गाधीजी ने अपनी आत्मकथा में इस आशय का उल्लेख किया है। इस उल्लेख का सरल अर्थ यह है कि गांधीजी कहते थे कि पाप के परिणाम से नहीं बचना चाहिए वरन् पापवृत्ति से बचना चाहिए। पापवृत्ति से बचकर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। तब उनके ईसाई मित्रों का कहना था कि पाप का सारा बोझ ईसु पर ही डाल देना चाहिए। इसु पर विश्वास रखने से वह हमारे समस्त पाप धो डालता है। गाधीजी ने इस दलील के उत्तर में कहा था कि पाप तो करना मगर उसका दंड न भोगना, यह उचित कैसे कहा जा सकता है? मैं तो पाप के दंड से नहीं बचना चाहता। मैं पापवृत्ति ही बचना चाहता हूँ।

इस प्रकार दूसरे लोग पाप से बचने के बदले पाप के फल से बचना चाहते हैं, परन्तु जैनधर्म कहता है कि पाप के परिणाम से बचने की कामना मत करो, पाप से ही बचने की इच्छा करो और उसके लिए प्रायश्चित्त करो।

नरक में भी दो प्रकार के जीव हैं—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि पाप को बुरा समझते हैं, नरक को नहीं। मगर मिथ्यादृष्टि नरक को बुरा समझ कर गालियां देते हैं। सम्यग्दृष्टि पाप को बुरा समझता है और पाप को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करता है, मगर मिथ्यादृष्टि नरक को खराब समझता है और उसे गालियां देकर और अधिक पापकर्म उपार्जन करता है। जैनशास्त्र का आदेश है कि पाप से बचो, पाप के परिणाम से बचने की इच्छा मत करो।

इस कथन को दृष्टि में रखकर तुम अपने कर्त्तव्य का विचार करो। इस कथन का सार यही है कि पापवृत्ति से बचते रहना चाहिए, फिर भी कदाचित् पाप हो जाय तो उसके फल से बचने की कामना नहीं करनी चाहिए वरन फल भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। मानना चाहिए कि मैं जो दुःख भोग रहा हूँ वह मेरे ही पाप का परिणाम है, चाहे वह इसी जन्म के पाप का हो अथवा किसी और जन्म का हो। श्री भगवतीसूत्र में इस संबंध में प्रश्न पूछा गया है—

'से नूनं भंते ! सकडा कम्म वेदयंति, परकडा वेदयंति ?

अर्थात्—हे भगवन् ! जीव अपने किये कर्मों से दुःख पाते हैं या दूसरों के किये कर्मों से दुःख पाते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—

गोयमा ! सकडा कम्म वेदयति, नो परकडा।

अर्थात्—हे गौतम ! जीव अपने कर्मों को ही भोगता है, दूसरों के किये कर्म को नहीं भोगता।

यद्यपि भगवान् ने ऐसा कहा है लेकिन आजकल तो यह देखा जाता है कि अगर कोई खम्भे से टकराता है तो वह खम्भे को ही दोष देने लगता है, मगर अपनी असावधानी का खयाल नहीं करता। इसी प्रकार अज्ञानी अपने पापकर्मों की ओर नजर नहीं डालते बल्कि दूसरों को दोष देने को तैयार रहते हैं। इससे विरुद्ध ज्ञानी जन अपने ही पापों को देखते हैं और उनका प्रायश्चित्त करते हैं। तुम भी अपने पापों को देखो और उनका प्रायश्चित्त करो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

सत्तरहवाँ बोल ।

क्षमापणा

प्रायश्चित्त के विषय में विचार किया जा चुका है। यहाँ क्षमापणा के सम्बन्ध में विचार करना है। प्रायश्चित्त और क्षमापणा में आपस में क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि—जब प्रायश्चित्त द्वारा पाप का छेदन कर डाला जाता है तब चित्त समताल बन जाता है। चित्त की समतोल अवस्था होने पर यह विचार उत्पन्न होता है कि मैंने अमुक-अमुक का अपराध किया है और अमुक का अमुक प्रकार से दिल दुखाया है। अतएव मैं उससे क्षमायाचना करके निर्वैर बनूं। इस प्रकार विचार उत्पन्न होने से क्षमा माँगने का निश्चय होता है। इसी कारण प्रायश्चित्त के पश्चात् क्षमापणा के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा गया है।

मूलपाठ

प्रश्न–खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मेत्तीभावमुप्पाएइ, मेत्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न–हे भगवन् ! क्षमा मांगने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–क्षमा माँगने से चित्त में प्रसन्नता होती है और चित्त में प्रसन्नता होने से जीव जगत् के समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्व–इन चारों प्रकारों के जीवों में मित्रभाव उत्पन्न कर सकता है और मित्रभाव पाकर अपनी भावना विशुद्ध करके अन्त में निर्भय बनता है।

व्याख्यान

सब से पहले यह विचारना चाहिए कि क्षमापणा का मतलब क्या है ? किसी के ऊपर द्वेष उत्पन्न हुआ हो, वैमनस्य हुआ हो या किसी का दिल दुखाया हो तो उस दुःख आदि को दूर करने के लिए और उसके चित्त को शान्ति पहुँचाने के लिए जिस क्रिया का सहारा लिया जाता है, उस क्रिया को क्षमापणा कहते हैं। क्षमा वही दे सकता है और वही माँग सकता है, जिसने प्रायश्चित्त द्वारा अपना मन शान्त कर लिया हो। इस प्रकार दूसरे के मन को जिसके द्वारा शान्ति पहुँचाई जाती है, उसी क्षमापणा के विषय में भगवान्,

स प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! क्षमापणा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—हे शिष्य ! क्षमापणा करने से प्राणी, भूत, जीव और सत्व के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न होती है।

प्राण धारण करने वाला प्राणी कहलाता है। जो भूतकाल में भी था उसे 'भूत' कहते हैं। जो भूतकाल में जीवित था, वर्त्तमान में जीवित है और भविष्य में जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है। और जो अपनी ही सत्ता से जीवित है उसे 'सत्व' कहते हैं। प्राणी शब्द से दोइंद्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय वाले जीवों का बोध होता है। भूत शब्द से वनस्पति आदि का बोध होता है। सत्व शब्द से पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि काय के जीवों का ग्रहण होता है। जीव शब्द से पंचेन्द्रिय प्राणियों का ग्रहण होता है। भेद विचार से इस प्रकार का बोध होता है।

भगवान् का कथन है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को खमाने वाला सभी जीवों के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न करता है।

अपनी परम्परा में तो चौरासी लाख जीवयोनियों को खमाने की रीति प्रचलित है, मगर जहाँ विरोध उत्पन्न हुआ हो वहाँ क्षमा मांगना ही सच्ची क्षमायाचना की कसौटी है। दूसरे के दिल को दुख पहुँचाया हो, हृदय में कलुषता उत्पन्न की हो, इसी प्रकार दूसरे की तरफ से अपने हृदय में विरोध या कलुषता की उत्पत्ति हुई हो तो उस *विरोध और कलुषता को क्षमा के आदान प्रदान द्वारा शान्त* कर डालना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय अथवा द्वीन्द्रिय आदि जीवों की ओर से तुम्हें किसी प्रकार का संताप हुआ हो तो उसे भूल जाना चाहिए और हृदय में किसी भी प्रकार की कलुषता नहीं

रहने देना चाहिए। अपना हृदय सर्वथा वैरहीन बना लेना ही क्षमापणा का उद्देश्य है। विश्व के समस्त जीवों के प्रति निर्वैरभाव रखना और विश्वमैत्री पनपाना एवं विकसित करना क्षमापणा का महान् आदर्श और उद्देश्य है। सब जीव तो खैर दूर रहें, किन्तु मनुष्यों का संसर्ग विशेष रूप से रहता है और इस कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच कलुषता होना अधिक संभव है। अतः मनुष्यों के प्रति निर्वैर भाव प्रकट करने के लिए, सब प्रथम अपने घर के लोगों के साथ अगर कलुषता हुई हो या उनके द्वारा कलुषता हुई हो तो उसे हृदय से निकाल कर क्षमा धारण करना चाहिए और इस प्रकार हृदय शुद्ध करके धीरे धीरे विश्वमैत्री का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह विश्व के जीव मात्र के प्रति क्षमा का आदान प्रदान करने से चित्त में प्रसन्नता होती है और चित्त की प्रसन्नता से भाव की विशुद्धि होती है। अगर दूसरे की ओर से तुम्हारे हृदय को चोट पहुँची हो तो उसे उदारतापूर्वक क्षमा देना चाहिए और यदि तुमने किसी का हृदय दुखी किया हो तो तुम्हें नम्रतापूर्वक क्षमा माँगना चाहिए। यही सच्ची क्षमापणा है।

तुम प्रायः हमेशा ही क्षमापणा करते हो परन्तु सब से पहले यह देखो कि तुम्हारा क्षमापणा सच्ची है-हृदयपूर्वक है अथवा केवल प्रथा का पालन करने के लिए ही है? देखना, कहीं ऐसा तो नहीं होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय में तो भाई के साथ क्षमापणा का व्यवहार करो मगर उपाश्रय से बाहर निकलने के बाद भाई पर दावा किया हुआ मुकदमा चालू रखते होओ? इस तरह बाहर से क्षमाभाव बतलाओ और भीतर भीतर वैरभाव रक्खो तो वह सच्ची क्षमापणा नहीं है। सच्चे भाव से क्षमापणा की जाय तो आपसी झगड़े आगे चालू नहीं रह सकते। सच्ची क्षमापणा करने वाला तो यही कहेगा कि अब तुम्हारे और मेरे बीच केस नहीं चल सकता।

तुम्हारी इच्छा हो तो हमारा देना द जाना, नहीं तो तुम्हारी इच्छा! तुम्हारे प्रति अब मेरे अन्त करण में किसी प्रकार का वैरभाव नहीं है। अब तुम्हारे ऊपर मेरा मैत्रीभाव है। सच्चा सम्यग्दृष्टि ऐसी क्षमापणा करता है।

तुम गृहस्थ ठहरे। तुम्हारी आपस में खटपट हो जाना स्वाभाविक है। मगर कभी-कभी हम साधुओं में भी खटपट हो जाती है। जहाँ दो चूड़ियाँ होगी आवाज होगी ही। इस कथन के अनुसार साधुओं में भी परस्पर खटपट हो जाती है। मगर साधुओं के लिए शास्त्र कहता है कि अगर किसी के साथ तुम्हारी खटपट हो गई हो तो जब तक उससे क्षमा न माँगलो तब तक दूसरा काम मत करो। इसके लिए शास्त्र में कहा है—

भिक्खाय अहिगरण कट्टु अवि ओस्मिता (?) नो से कप्पई गाहावई कुल भत्ताय पाणाय वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा बहिया विहारभूमिं वा अविहारभूमि वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

इस सूत्रपाठ का भावार्थ यह है कि अगर साधुओं में आपस में अनबन हो गई हो तो, हे साधुओ! पहले उस अनबन को दूर कर क्षमापणा करो। जहाँ तक तुम अपना अपराध क्षमा न करवा लो वहाँ तक किसी के घर आहार पानी लेने न जाओ, शौचादि मत जाओ और न स्वाध्याय भी करो।

इस प्रकार शास्त्र की आज्ञा है कि अगर साधुओं से आपस में किसी तरह की अनबन हो गई हो तो उसी समय क्षमा लेना चाहिए। जब तक साधु न कर ले तब तक वह आहार

पानी के लिए कहीं नहीं जा सकते, इतना ही नहीं, पर स्वाध्याय भी नहीं कर सकते। शौच जाना आवश्यक माना गया है लेकिन क्षमा पणा किये बिना साधु शौच भी नहीं जा सकते। सब से पहले अपने आत्मा में दूसरों की तरफ से असमाधि उत्पन्न हुई हो उसे दूर करो फिर भले ही दूसरा काम करो। जब तक असमाधि दूर न हो, दूसरा कोई काम मत करो।

तुम्हारे घर में आग लगी हो तो पहले आग बुझाने का प्रयत्न करोगे या कहोगे कि पहले भोजन कर लें और फिर आग बुझाते रहेंगे? तुम तत्काल सब काम छोड़कर पहले आग बुझाने का ही प्रयत्न करोगे। इसी प्रकार शास्त्र कहता है—हे साधुओ! तुम्हारे अन्तःकरण में जो भाव-अग्नि लग रही है, उसे सब से पहले शान्त करो। उसके बाद दूसरे काम करो।

कदाचित् कोई कहे कि मैं तो अमुक को खमाता हूँ पर वह मुझे क्षमा नहीं देता, ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है—

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विओसमित्ता विओसवियपाहुडे इच्छा य परो आढाइज्जा इच्छा य परो न आढाइज्जा, इच्छा य परो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छा य परो न अब्भुट्ठेज्जा, इच्छा य परो वंदेज्जा, इच्छा य परो न वंदेज्जा इच्छा य परो संभुँजेज्जा, इच्छा य परो न संभुँजेज्जा, इच्छा य परो संवसिज्जा, इच्छा य परो न संवसिज्जा, इच्छा य परो उवसमिज्जा, इच्छा य परो न उवसमिज्जा। जो उवसमइ

तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसम्मइ नत्थि तस्स आराहणा। तम्हा अप्पणा चेव उवसम्मिएव्वं, स किमाहु भन्ते ! उवसम उवसममार सामण्ण।

—बृहत्कल्पसूत्र।

इस सूत्रपाठ का भावार्थ यह है कि जिसके साथ तुम्हारी अनबन या बोलचाल हो गई हो, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारा आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हें वदना करे, इच्छा न हो तो वदना न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो साथ भोजन न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ रहे, इच्छा न हो तो साथ न रहे, उसकी इच्छा हो तो उपशान्त हो जाय, इच्छा न हो तो उपशान्त न हो। तुम उसके इन कृत्यों को मत देखो, अपनी ओर से क्षमायाचना कर लो। तुम तो अपनी ओर ही देखो। दूसरा खमाता है या नहीं, यह देखने की आवश्यकता नहीं। तुम तो अपने अपराध के लिए क्षमा माग लो और उसके अपराध के लिए अपनी ओर से क्षमा कर दो। वह तुम्हारा अपराध क्षमा करे या न करे, तुमसे क्षमायाचना करे या न करे, मगर तुम अपनी ओर से तो क्षमा माँग ही लो और क्षमा दे भी दो।

यह कथन सुनकर शिष्य ने भगवान् से पूछा—भगवन् ! ऐसा किस लिए करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—श्रमणता का सार उपशान्त होना है, अतः तुम उपशान्त हो जाओ।

शास्त्र यह कहकर साथ ही यह भी कहा है कि तुम उसे खमाओ और वह तुम्हें न खमावे तो तुम उसकी निन्दा मत

अगर तुम उसे खमाकर उसकी निन्दा करते हो तो समझना चाहिए कि तुमने सच्चे रूप में खमाया ही नहीं है। वह नहीं खमाता तो उसके कर्म भारी होंगे, मगर तुम तो अपनी ओर से क्षमापणा करके उपशान्त हो जाओ। अगर तुम हृदयपूर्वक दूसरे से खमाते हो तो तुम आराधक ही हो।

कहने का आशय यह कि कोई दूसरा खमावे या न खमावे लेकिन तुम तो दूसरे को खमा ही लो। अगर तुम दूसरे को खमा लेते हो तो तुम अपने हृदय की कलुषता दूर करते हो। जिसके चित्त की कलुषता दूर हो जाती है उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है। योग सूत्र में कहा है—

'भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।'

अर्थात्-भावना से चित्त को प्रसन्नता प्राप्त होती है। चित्त को प्रसन्न करने वाली भावनाएँ चार हैं—करुणाभावना, मध्यस्थ भावना, प्रमोदभावना और मैत्रीभावना। क्षमापणा करने से मैत्री भावना प्रकट होती है। दूसरे के साथ वैरविरोध या क्लेश कंकास हो गया हो तो उससे क्षमा का आदान प्रदान करके हृदय में मैत्रीभावना प्रकट करनी चाहिए। ऊपर ऊपर से क्षमापणा की जाय तो वह सच्ची मैत्रीभावना नहीं है।

भगवान् कहते हैं—क्षमापणा करने से हृदय का पश्चात्ताप और क्लेश कलह मिट जाता है तथा हृदय में प्रसन्नता एवं प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार क्षमापणा द्वारा प्रसन्नता और मैत्रीभावना प्रकट हो जाने के फलस्वरूप किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता अर्थात् निर्भयता प्राप्त होती है।

भगवान् ने क्षमापणा का यह फल बतलाया है। मगर इस फल की प्राप्ति उन्हें होती है जो सच्चे हृदय से क्षमा याचना करते हैं और क्षमादान करते हैं। केवल प्रथा का पालन करने के लिए क्षमा मांगना और देना एक बात है और हृदय से क्षमा का आदान प्रदान करना दूसरी बात है। किस प्रकार हृदय से क्षमायाचना की जाती है और क्षमा दी जाती है, इस विषय में एक प्रसिद्ध उदाहरण देना उपयोगी होगा।

सोलह देशों के महाराजा उदायन की स्वर्णगुटिका नामक दासी को उज्जैन का राजा चंडप्रद्योत चुरा ले गया। दासी चुराई गई है, यह बात उदायन के कानों में पड़ी, फिर भी श्रावक होने के कारण उसने चंडप्रद्योत को सहसा दंड देने की व्यवस्था नहीं की। उसने दासी को लौटा देने का सन्देश चंडप्रद्योत के पास भेजा। उदायन के इस सन्देश के उत्तर में अभिमान से भरे चंडप्रद्योत ने कहला भेजा—'हम राजा हैं। रत्नभोक्ता हैं। श्रेष्ठ रत्न प्राप्त करके भोगने का हमें अधिकार है। दासीरत्न को हम अपने बल बूते पर ले आये हैं। क्षत्रिय किसी चीज की याचना करना नहीं जानते। हम अपनी शक्ति के भरोसे दासीरत्न लाये हैं और उसे लौटा नहीं सकते। अगर उदायन राजा में शक्ति हो तो वह अपनी दासी को वापिस ले जावे। माँगने से दासी नहीं मिल सकेगी।'

चंडप्रद्योत ने अपने सैन्य बल के अभिमान में मस्त होकर यह उत्तर दिया। उदायन ने चंडप्रद्योत का यह उत्तर सुनकर कहा—'चोरी करना क्षत्रियों का धर्म है! और माँगना क्षत्रियों का धर्म नहीं है! उसने मुझे कायर समझा होगा, मगर देखता हूँ वह दासी को कैसे नहीं सौंपता!' यह कहकर उदायन ने चंडप्रद्योत के साथ युद्ध करने का निश्चय कर लिया।

अपने निश्चय के अनुसार उदायन राजा ने उज्जैन पर चढ़ाई कर दी और उज्जैन पर विजय प्राप्त करके चंडप्रद्योत को कैद कर लिया। उदायन राजा विजय प्राप्त करके अपने देश को और लौट रहा था कि सम्वत्सरी पर्व निकट आने पर उसकी आराधना करने के लिए दशार्णपुर—वर्त्तमान मन्दसौर नगर में ठहर गया। उदायन ने अपनी सेना से कहा—'कल मेरा महापर्व है। मैं इस पर्व की आराधना करूँगा और प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव धारण करूँगा। अतएव इस बात का खयाल रखना कि कल किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचे।' सेना से यह कहकर उसने अपने रसोइया को बुलाया और चंडप्रद्योत की ओर संकेत करके कहा—'यद्यपि इस समय यह मेरे कब्जे में हैं, फिर भी राजा हैं। अतः कल इनकी इच्छा के अनुसार भोजन की व्यवस्था करना और ध्यान रखना कि इन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए। मैं कल संवत्सरी पर्व की आराधना करूँगा।'

चंडप्रद्योत को पता था कि उदायन राजा संवत्सरी के दिन सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव धारण करके, सबसे क्षमायाचना करते हैं और उदारभाव से क्षमादान देते हैं। उसने सोचा—बस, कल का दिन ही मेरे लिए बन्धन से मुक्त होने के लिए उपयुक्त है। इस प्रकार विचारकर चंडप्रद्योत ने उदायन से कहा—'कल मैं भी आपके साथ संवत्सरी महापर्व की आराधना करूँगा और आपके साथ ही पौषध करूँगा।' उदायन ने कहा—'आपने पहले कभी पौषध नहीं किया है, अतः कष्ट होगा। बलात्कार से किसी से धर्म करवाना धर्म नहीं कहा जा सकता। इसलिए पौषध करने के विषय में अच्छी तरह विचार करलो।' चंडप्रद्योत बोला—'आप पौषध करेंगे और मैं नहीं कर

सकूँगा? नहीं, मैं भी आपके साथ पौषध करूँगा।' उदायन ने कहा—'तो जैसी आपकी इच्छा।'

उदायन और चडप्रद्योत ने एक ही जगह और एक ही विधि से पौषध व्रत अगीकार किया, मगर दोनों के भाव जुदा जुदा थे। सध्या समय उदायन ने प्रतिक्रमण किया और समस्त जीवोंसे क्षमा याचना की।' चडप्रद्योत ने भी इसी प्रकार किया। जब उदायन ने सब जीवों के प्रति क्षमायाचना की तब चडप्रद्योत पास ही था। उदायन ने उससे कहा—'ससार बहुत विषम है और यहाँ साधारण बात में भी क्लेश हो जाता है। तुम्हारे साथ जो युद्ध हुआ वह भी साधारण सी बात के लिए ही था। मैं हृदय से चाहता था कि किसी प्रकार युद्ध टल जाय, लेकिन तुमने जो उत्तर दिया, उसने राजकर्त्तव्य की रक्षा के लिए मुझे युद्ध करने के लिए विवश कर दिया। मेरे लिए क्षात्रधर्म और राजनीति का पालन करना आवश्यक था और इसी कारण तुम्हारे साथ युद्ध करना पड़ा और तुम्हें कष्ट देना पड़ा। ससार में ऐसी प्रपच के कारण ही तुम्हें कष्ट देना पड़ा, लेकिन उस कष्ट के लिए अब मैं क्षमायाचना करता हूँ।'

अगर अपराध था तो चडप्रद्योत का ही था, फिर भी उदायन ने उसके लिए क्षमा माँगी। जैनधर्म कहता है—तू अपना अपराध देख, दूसरों का मत देख। अगर तू दूसरों का अपराध देखेगा तो दूसरों से क्षमा नहीं माग सकेगा और न उन्हें क्षमा दे ही सकेगा। इसलिए तू अपने ही अपराधों की ओर दृष्टिपात कर और उनके लिए क्षमाप्रार्थी बन। चडप्रद्योत ने उदायन का कितना अपराध किया था? किसी ने तुम्हारा भी अपराध किया होगा परन्तु वह चडप्रद्योत जैसा शायद ही हो! फिर क्या तुम सामान्य अपराध के लिए भी क्षमा नहीं कर सकते? तुम दूसरों

अप-

राध देखो और सब से क्षमायाचना करके प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव स्थापित करो।

उदायन ने कहा—मैंने आपको कैद किया और आपका राजपाट छीन लिया है, इस अपराध के लिए मुझे क्षमा कीजिए।'

इसे कहते हैं खमावणा! इस प्रकार का सच्चा खमावणा ही हृदय को प्रसन्नता प्रदान करता है। उदायन के मन में यह अभिमान आना स्वाभाविक था कि मैं मालव नरेश को जीत कर कैद कर लाया हूँ। मगर नहीं, उसने यह अभिमान नहीं किया, यही नहीं वरन् अपनी इस विजय को पश्चात्ताप का कारण बनाया।

चंडप्रद्योत को पहले ही मालूम हो गया था कि संवत्सरी का दिन ही इस बंधन से मुक्त होने का स्वर्ण अवसर है। अतएव उसने उदायन के कथन के उत्तर में कहा—'महाराज! इस प्रकार क्षमा-याचना करने से मुझे किस प्रकार शान्ति मिल सकती है? आखिर तो मैं भी क्षत्रिय राजा हूँ। इस समय मैं राजपद से भ्रष्ट होकर कैदी जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। इस स्थिति में मेरे हृदय में कैसे भाव उठते होंगे? पदभ्रष्ट राजा कैद करने वाले को किस प्रकार क्षमा कर सकता है? उसका हृदय तो संताप से धधकता रहता है। फिर भी ऊपर से क्षमा करना तो एक प्रकार का दंभ ही कहा जा सकता है। मैं इस प्रकार का दंभ नहीं करना चाहता।'

चंडप्रद्योत की इस बात पर उदायन को क्रोध आ सकता था, मगर उदायन ने अपने मन में सोचा–इसका कहना तो ठीक है। उसने चंडप्रद्योत से कहा—'मैं तुम्हारा अभिप्राय समझता हूँ। वास्तव में तुम अपने पद से भ्रष्ट हो गये हो और इस समय मेरी कैद में हो, अतएव तुम्हारे हृदय में शान्ति कैसे हो सकती है? इस समय तो मैं कुछ नहीं कर सकता, लेकिन विश्वास दिलाता हूँ कि जो कुछ मैंने

तुम से जीत लिया है, वह सब तुम्हें लौटा दूँगा और कुछ अधिक भी दे दूगा। इतना ही नहीं वरन तुम्हें पहले की तरह सम्मान भी दूगा। सो अब तो मेरा अपराध क्षमा करोगे न?

उदायन की यह उदारता देखकर चण्डप्रद्योत की आँखों में आसू आ गये। वह अपने मन में कहने लगा—'कितनी उदारता है!' वस्तुतः उदायन की इस प्रकार की उदारता का महत्व चण्डप्रद्योत ने ही समझा था। उस समय उदायन, चण्डप्रद्योत को कितना प्रिय लगा होगा, यह तो चंडप्रद्योत ही जाने। सीता को राम और दमयन्ती को नल कितने प्यारे लगते थे, सो सीता और दमयन्ती को छोड़ और कौन अनुमान कर सकता है।

उदायन इस प्रकार की उदारता प्रदर्शित करके निर्भय हो गया। लोग समझते हैं कि जो विजयी होता है वह निर्भय बन जाता है और पराजित होने वाला भयग्रस्त रहता है। पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। विजयी, पराजित से अधिक भयभीत रहता है, क्योंकि उसके मन में सदैव यह शंका बनी रहती है कि पराजित शत्रु कहीं बलवान् होकर वैर भँजाने के लिए चढ़ाई न कर दे।

मान लीजिए, एक राजा ने किसी मनुष्य को कैद कर लिया। अब विचार कीजिए, भय किसे अधिक है? राजा को या कैदी को? राजा सदैव भयभीत रहता है कि कैदी कहीं छूट न जाय और वैर का बदला न ले बैठे! इस प्रकार कैदी की अपेक्षा कैद करने वाले को अपेक्षाकृत अधिक भय बना रहता है।

तुम धनवान् हो और हमारे पास धन नहीं है। विचार करो भय किसे ज्यादा है? तुम्हें भय है या हमें? धन होने के कारण तुम दिन रात भय से व्याकुल रहते हो। भयजनक धन का त्याग करने पर ही तुम निर्भय बन सकते हो।

चडप्रद्योत को आश्वासन देकर उदायन निर्भय हुआ। उदायन की यह उदारता देख चडप्रद्योत की आँखों से आसू बहने लगे। उसने कहा—मैंने आपका अपराध किया और उस पर भी दृढता पूर्वक उत्तर दिया। इसी कारण आपको इतना कष्ट सहन करना पड़ा, फिर भी आपकी उदारता धन्य है! आपकी इस उदारता से मैं इतना प्रभावित हूँ कि अब अगर आप मुझे कुछ भी न लौटाएँ तो भी मेरे हृदय में आपके प्रति वैरविरोध नहीं है।

संवत्सरी के दूसरे दिन उदायन ने चडप्रद्योत को मुक्त करते हुए कहा—यह संवत्सरी महापर्व का ही प्रताप है कि तुम मेरे हृदय को पहचान सके और मैं तुम्हारे हृदय को परख सका। संवत्सरी पर्व का सुअवसर न आया होता तो हम लोग एक दूसरे के हृदय को न जान पाते।

चडप्रद्योत को साथ लेकर उदायन अपने राज्य में आया। वहाँ उसने अपनी कन्या उसे ब्याह दी। उसने कन्यादान में जीता हुआ और कुछ अपना राज्य चडप्रद्योत को दे दिया तथा वह सुवर्ण गुटका दासी भी दे दी।

इसे कहते हैं क्षमापणा! क्षमा के आगे किसी भी प्रकार का वैर विरोध या क्लेश कलह नहीं ठहर सकता। तुम क्षमापणा तो करते हो, मगर जिसके साथ क्षमापणा करते हो, उसके प्रति वैरभाव तो अवशेष नहीं रहने देते? हृदय से की हुई क्षमापणा के सामने वैर विरोध कैसे टिक सकता है? भगवान् कहते हैं—सच्ची क्षमापणा करने वाला ही मेरा आराधक है। अतएव सच्चे आराधक बनने के लिए सच्ची क्षमापणा करो। सच्चे हृदय से क्षमापणा करोगे तो तुम्हारा कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा।

अठारहवाँ बोल।

स्वाध्याय

स्व-पर के कल्याण-साधन के लिए शास्त्र में अनेक उपाय बतलाये हैं। क्षमापणा भी उनमें से एक उपाय है। पिछले प्रकरण में उस पर विचार किया गया है। अब स्वाध्याय को कल्याण का सोपान गिन कर उस पर विचार किया जाता है स्वाध्याय के सम्बन्ध में भगवान् से इस प्रकार प्रश्न पूछा गया है —

मूलपाठ

प्रश्न—सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—स्वाध्याय करने से जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय करता है।

व्याख्यान

स्वाध्याय पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि क्षमापणा और स्वाध्याय के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध है? स्वाध्याय और क्षमापणा का सम्बन्ध बतलाते हुए टीकाकार कहते हैं कि स्वाध्याय करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है चित्त के विकार दूर करने की। लोक में कहावत है कि प्रत्येक शुभ कर्म में स्वच्छ होकर प्रवृत्त होना चाहिए। अतएव शुद्ध होकर स्वाध्याय करना उचित है, मगर यह शुद्धता बाह्य ही नहीं आन्तरिक भी होनी चाहिए। संसार में बाह्य स्वच्छता देखी जाती है, आन्तरिक स्वच्छता उतनी नजर नहीं आती। मगर वास्तव में आन्तरिक स्वच्छता की बड़ी आवश्यकता है। यह आन्तरिक स्वच्छता क्षमापणा द्वारा होती है। क्षमापणा आन्तरिक मैल को दूर कर, अन्तरंग को स्वच्छ बनाने का सुन्दर से सुन्दर साधन है। क्षमापणा द्वारा आन्तरिक शुद्धि करने के पश्चात् निकम्मा नहीं बैठ रहना चाहिए, वरन स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय करने से क्या लाभ होता है? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—हे शिष्य! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय होता है।

अब विचार करना है कि स्वाध्याय का अर्थ क्या है? सु+अध्याय अर्थात् सुष्ठु अध्याय स्वाध्याय कहलाता है। अध्याय का अर्थ है-पठन-पाठन। मगर पठन पाठन तो कामशास्त्र आदि का भी हो सकता है। मगर यहाँ ऐसे पठनपाठन का प्रकरण नहीं है। यह बात बतलाने के लिए 'अध्याय' शब्द के साथ 'सु' उपसर्ग लगाया गया है। 'सु' उपसर्ग का अर्थ सुष्ठु या श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार स्वाध्याय का अर्थ होता है-श्रेष्ठ पठन पाठन। जैन शास्त्र के

अनुसार वीतराग द्वारा कथित शास्त्र का आगम का पठन पाठन करना स्वाध्याय है। दूसरे द्वारा रचे ग्रंथों या शास्त्रों का पठन पाठन करने से कभी-कभी भ्रम में पड़ जाने का अंदेशा रहता है, मगर वीतराग कथित आगम के पठन पाठन में भ्रम में पड़ने का कोई भय नहीं रहता। जिनवाणी का अध्ययन करने से आत्मा का कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं हो सकता।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय के पांच भेद बतलाये हैं—(१) वाचना (२) पृच्छना (३) पर्यटना (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा। स्वाध्याय के यह पाँच भेद हैं। सूत्र जैसा है उसे वैसा ही पढ़ना वाचना है, परन्तु यह सूत्रवाचना गुरुमुख से ही लेनी चाहिए। गुरुमुख से वाचना न ली जाय तो प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार गुरुमुख से ली जाने वाली वाचना स्वाध्याय का पहला भेद है।

स्वाध्याय का दूसरा भेद पृच्छना है। गुरुमुख से जो वाचना ली गई है, उसके विषय में पूछताछ करना पृच्छना है। जैसे जानवर दरा पररा बिना घास खा जाता है, उसी प्रकार दरे पररे बिना सूत्र नहीं बांचना चाहिए। उसके विषय में हृदय में तर्क वितर्क अथवा पूछताछ करना चाहिए। ऐसा करने से किसी को किसी प्रकार की शंका ही नहीं रहेगी। हृदय में उत्पन्न हुई शंका को शंका के ही रूप में नहीं रहने देना चाहिए, वरन् उसे दूर करने के लिए पूछताछ अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार की पूछताछ करने को ही पृच्छना कहते हैं।

जो वाचना गुरुमुख से ली गई है और जिसके विषय में पृच्छना करके हृदय की शंका दूर की गई है, उस सूत्रवाचना को विस्मृत न होने देने के लिए परिवर्तना करते रहना चाहिए। सूत्रवाचना का परावर्त्तन करना स्वाध्याय का तीसरा भेद है।

स्वाध्याय का चौथा भेद अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा का अर्थ तत्त्व का विचार करना है। सूत्रवाचना क विषय में तात्त्विक विचार करना अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार सूत्रवाचना, प्रच्छना, पर्यटना और अनुप्रेक्षा करने के बाद धर्मकथा करने का विधान किया गया है।

धर्मकथा स्वाध्याय का पाँचवाँ भेद है।

स्वाध्याय का स्पष्ट अर्थ करत हुए टीकाकार कहते हैं—

यत् खलु वाचनादेरासेवनमत्र भवति विधिपूर्वम्।
धर्मकथान्त क्रमश तत् स्वाध्यायो विनिर्दिष्ट.॥

अर्थात्—वाचना, प्रच्छना स लकर धमकथा पर्यन्त का विधिपूर्वक सेवन करना स्वाध्याय है।

टीकाकार न वाचना आदि के विधिपूर्वक सवन को स्वाध्याय कहा है। तो फिर स्वाध्याय की विधि क्या है, यह भी जानना चाहिए। मगर अन्य ग्रथों में स्वाध्याय का कैसा महत्व बतलाया गया है, यह जान लना आवश्यक है। योगसूत्र म स्वाध्याय का महत्व प्रकट करते हुए कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग।

अर्थात्—स्वाध्याय स इष्ट देवता का सप्रयोग होता है। मूलसूत्र में तो सिर्फ यही कहा गया है कि स्वाध्याय से इष्ट दवता की कृपा होती है, मगर भाष्यकार इससे भी आग बढ़कर कहत हैं कि स्वाध्याय करने वाले मनुष्य का दर्शन करने के लिए देवता भी दौड आते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि स्वाध्याय करने वाले की भावना किस प्रकार पूर्ण हो।

स्वाध्याय की विधि क्या है ? और किस उद्देश्य से स्वाध्याय करना चाहिए ? किसान खेत में बीज फेंकता है सो केवल फेंकने के उद्देश्य से ही वह नहीं फेंकता है। एक दाने से अनेक दाने उत्पन्न करने के लिए वह बीज फेंकता है। स्वाध्याय करने वाले को भी यह बात सदैव स्मरण में रखनी चाहिए कि मैं स्वाध्याय करके हृदय क्षेत्र में जिस बीज का आरोपण करता हूँ, वह विशेष रूप फल की प्राप्ति के लिए कर रहा हूँ। अतएव मैं जैसे तैसे बालक स्वाध्याय न करूं वरन् स्वाध्याय के द्वारा जो बात ग्रहण की गई है, उसी के अनुसार व्यवहार करूँ। इस प्रकार सक्रिय स्वाध्याय करने से ही स्वाध्याय के फल की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय का फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होना है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध में एक उदाहरण और दिया जाता है। जैसे फल की प्राप्ति के लिए ही वृक्ष की जड़ें, सींची जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करने रूप फल प्राप्त करने के लिए ही स्वाध्याय किया जाता है। अतएव स्वाध्याय करने में सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि मैं वृक्ष को सींच तो रहा हूँ, मगर कहीं ऐसा न हो कि मैं फल से वंचित रह जाऊँ। मैं दूसरों को सुनाने के लिए स्वाध्याय करूँ और लोग भी मेरी प्रशंसा करें, मगर मैं जैसा का वैसा ही न रह जाऊँ। मुझमें ऐसा न हो कि मूल को सींचने पर भी मुझे फल प्राप्त न हो। मुझे इस बात का ध्यान होना चाहिए कि मैं शास्त्र का स्वाध्याय करके जिस धर्म रूपी कल्पवृक्ष का सिंचन कर रहा हूँ, उसका फल ज्ञानावरण कर्म का क्षय होना है, [illegible] वह फल मुझे प्राप्त करना है। इस बात को ध्यान में रखते हुए मुझे स्वाध्याय करना चाहिए।

दर्पण के ऊपर का मैल इसीलिए साफ किया जाता है कि मुँह भलीभाँति दिखलाई दे सके। यह माना जाता है कि जिस दर्पण में मुँह ठीकठीक दिखाई पड़े वह दर्पण साफ है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि जिस स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो, वही सच्चा स्वाध्याय है।

प्राचीन काल में विद्यार्थी जब विद्याध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से विदाई लेते थे, तब गुरु उन्हें यह शिक्षा देते थे— हे शिष्यो ! स्वाध्याय करने में प्रमाद मत करना। स्वाध्याय द्वारा जो वस्तु हितकारी प्रतीत हो उसे स्वीकार करना और जो अहितकर प्रतीत हो उसे त्याग देना। स्वाध्याय में धर्म का भी स्वरूप विदित होता है और अधर्म का भी। इन दोनों में से धर्म को स्वीकार करना और पाप का परित्याग करना चाहिए। दीपक के प्रकाश में अच्छी वस्तु भी देखी जा सकती है और साँप बिच्छू वगैरह भी देखे जा सकते हैं। मगर अच्छी वस्तु देखकर ग्रहण की जाती है और खराब वस्तु देखकर छोड़ दी जाती है। दीपक के प्रकाश से अगर साँप दिखाई देता है तो लोग साँप से दूर भाग जाते हैं और यदि कोई अच्छी चीज नजर आती है तो उसे ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय से अच्छी बातें भी मालूम होती हैं और बुरी बातें भी जानने में आती हैं। इन दोनों अच्छी बुरी बातों में से, हे शिष्यो ! अच्छी बातें ग्रहण करो और बुरी बातें त्याग दो।'

आप भी व्याख्यान सुनते हैं, मगर व्याख्यान सुनकर जो वस्तु लाभप्रद प्रतीत हो उसे अपनाने में ही व्याख्यान सुनने की सार्थकता है और तभी व्याख्यानश्रवण स्वाध्याय रूप कहा जा सकता है। व्याख्यान सुनकर वाह वाह करने में ही रह गये और जीवन में कुछ भी न अपनाया तो व्याख्यान सुनने से क्या लाभ है ?

कल्पना कीजिए, आपके पूर्वजों ने आपके घर में सम्पत्ति गाड़ रक्खी है। यह बात आपको मालूम है लेकिन आवश्यकता के अवसर पर भी वह आपके हाथ नहीं लगती। इतने में कोई सिद्ध योगी आकर आपकी सम्पत्ति आपको बतला दे तो आपको कितनी प्रसन्नता होगी? इसी प्रकार इस शरीर में अनन्त गुणों वाला आत्मा विराजमान है। अगर कोई इस आत्मा का दर्शन आपको करा दे तो क्या आपको प्रसन्नता नहीं होगी? स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म नष्ट होता है और ज्ञानावरण के नाश से आत्मा का दर्शन हो सकता है। अतएव स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करके आत्मा का दर्शन करो। ज्ञानी जन कहते हैं—आत्मा अनन्त गुण वाला और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। आत्मा के गुण इस मानव शरीर द्वारा ही प्रकट किये जा सकते हैं। आपको पुण्य-योग से मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, इसलिए आत्मा के उन गुणों को एवं शक्तियों को प्रकट करने का प्रयत्न करो। केवल शरीर देखकर ही न रह जाओ। सुना है, अमेरिका में मनुष्य की आकृति की मछली भी होती है, मगर आप मनुष्य हैं, मछली नहीं हैं। यह बात तो तभी प्रतीत होगी जब आप अपने जीवन में मनुष्यता प्रकट करेंगे। जीवन में मनुष्यता प्रकट करने के लिए और अपनी मनुष्यता सिद्ध करने के लिए आपको विचारना चाहिए कि—हे आत्मन्! तुझे यह मानव शरीर मिला है और ऐसे धर्मगुरुओं का सुयोग भी प्राप्त हो गया है। फिर भी अगर अपनी शक्ति का प्रकट नहीं करेगा तो कब करेगा? इस प्रकार विचार कर स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट करके आत्मा का स्वरूप पहचानो और आत्मशक्ति प्रकट करो।

तपस्वी मुनि श्री रघुरायजी महाराज फक्कड़ साधु थे। वह एक बार जोधपुर में थे, तब जोधपुर के सिंघीजी ने उनकी प्रशंसा सुनी

और उनके दर्शन करने आये। रघुनाथजी महाराज ने सिंघीजी से पूछा—आप कुछ धर्मध्यान करते हैं या नहीं? सिंघीजी ने उत्तर दिया—'महाराज! पहले बहुत धर्मध्यान किया है, उसके फलस्वरूप सिंघी सरीखे उत्तम कुल में जन्म पाया है, पैर में सोने का कड़ा पहनने को मिला है, जागीर मिली है, हवेली है और अच्छे कुल की कन्याएँ भी प्राप्त हुई हैं। ऐसी स्थिति में पहले किये पुण्य का फल भोगें या अब नया करने बैठें।'

तपस्वीजी ने उत्तर दिया—सिंघीजी, यह सब तो ठीक है कि आपने पहले जो धर्मध्यान किया है, उसका फल आप भोग रहे हैं। मगर यदि भविष्य के लिए धर्मध्यान न किया और मृत्यु के पश्चात् कुत्ते का जन्म धारण करना पड़ा तो आपको उस हवेली में कौन घुसने देगा?

सिंघीजी—महाराज! ऐसी अवस्था में तो हवेली में कोई नहीं घुसने देगा?

तपस्वीजी—इसीलिए हम कहते हैं, भविष्य के लिए धर्मध्यान करो।

मैं भी आपसे यही कहता हूँ कि आपको उत्तम मनुष्यजन्म, उत्तम जैनधर्म, उत्तम धर्मक्षेत्र आदि का सुयोग मिला है। इस अनमोल अवसर का लाभ उठाकर आत्मकल्याण साधो। इसी में कल्याण है। दूसरे आत्मकल्याण की साधना करें या न करें, उस पर ध्यान न देते हुए आप अपना कल्याण करने में प्रयत्नशील रहें।

कहने का आशय यह है कि स्वाध्याय का फल ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करना है। कोई कह सकता है कि हमें शास्त्र बाचना नहीं आता, ऐसी स्थिति में शास्त्र का स्वाध्याय किस प्रकार करें? ऐसा कहने वाले लोगों से यही कहा जा सकता है कि अगर

उन्नीसवाँ बोल।

वाचना

स्वाध्याय भी परमात्मा की प्रार्थना करने का एक साधन है। पिछले प्रकरण में स्वाध्याय के पाँच भेद बतलाये गये हैं। अब शास्त्रकार स्वाध्याय के प्रत्येक भेद पर विचार करते हैं। स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय पर समुच्चय रूप में विचार किया जा चुका है। परन्तु इस प्रकार सामान्य रूप से कही हुई बात कभी कभी साधारण लोगों की समझ में नहीं आती। इसी कारण स्वाध्याय के प्रत्येक भेद के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया जाता है। मनुष्य कहने से सभी मनुष्यों का समावेश हो जाता है, फिर चाहे वह राजा हो, रंक हो, गरीब या अमीर हो, ब्राह्मण हो या शूद्र हो। लेकिन साधारण लोग मनुष्य कहने मात्र से मनुष्य के सब भेदों को नहीं समझ सकते। उन्हें मनुष्य के भेद समझाने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद स्पष्ट करके समझाने पडते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय के सम्बन्ध में समुच्चय रूप से विवेचन किया गया है, मगर वह विवेचन साधारण लोग नहीं समझ सकते। इस विचार

से स्वाध्याय के भेद करके प्रत्येक भेद के विषय में भगवान से प्रश्न किया गया है। स्वाध्याय का पहला भेद वाचना है। अतएव सर्व प्रथम वाचना के विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—वायणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वायणयाए णं निज्जरं जणयइ, सुअस्स अणासायणाए (अणुमज्जणाए) वट्टइ, सुअस्स य अणासायणाए (अणुसज्जणाए) वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ, तित्थमवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे हवइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—हे भगवन् ! वाचना से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—शास्त्र की वाचना से कर्म की निर्जरा होती है। सूत्र प्रेम होने से ज्ञान में वृद्धि होती है और ऐसे सूत्रप्रेम से तीर्थङ्करों के धर्म का अवलम्बन मिलता है। तीर्थङ्करों के धर्म का अवलम्बन मिलने से कर्म की महान् निर्जरा होती है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है।

व्याख्यान

वाचना के विषय में विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिए कि वाचना का अर्थ क्या है ? वाचना लेने के योग्य शिष्य को गुरु सिद्धान्त का जो वाचन कराता है, उसे वाचना कहते हैं। वाचना का अर्थ सुगम करने के लिए टीकाकार

कहते हैं कि गुरु उपदेशक या प्रयोजक होकर शिष्य को शास्त्र पढ़ाता है। यही शास्त्र पढ़ाने की क्रिया वाचना कहलाती है।

वाचना लेने वाला शिष्य तो सुपात्र होना ही चाहिए, लेकिन वाचना देने वाले गुरु में क्या गुण होने चाहिए, यह विचार लेना आवश्यक है। वाचना देने वाला अच्छा हो तो वाचना लेने वाले और देने वाले—दोनों को ही लाभ होता है। भगवान् से वाचना के विषय में यह प्रश्न किया गया है कि—हे भगवन्! वाचना देने वाले को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने पहली बात यह कही है कि वाचना देने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है।

सामान्यरूप से तो निर्जरा, मन, वचन और काय—इन तीनों से होता है परन्तु यहाँ मन द्वारा निर्जरा होने की प्रधानता जान पड़ती है, क्योंकि वाचना देने में मन को एकाग्र रखना पड़ता है। कहा भी है —

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बंध और मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार मन को बंध और मोक्ष का कारण बतला कर वाचना देने वाले को यह सूचित कर दिया है कि वाचना देने वाले को ऐसा नहीं मानना चाहिए कि मैं शिष्य को वाचना दे रहा हूँ, या मैं शिष्य को पढ़ा रहा हूँ, वरन् ऐसा समझना चाहिए कि मैं सूत्र की वाचना देकर अपने कर्मों की निर्जरा कर रहा हूँ। ऐसा मानकर शिष्य को सूत्र की वाचना देने से वाचना देने वाले को अत्यन्त आनन्द होता है, यही नहीं उसमें कायरता नहीं आती और साथ ही उसका उत्साह भी भंग नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस

स्थिति में सूत्रवाचना देने के कार्य को वह दूसरे का कार्य नहीं समझेगा बल्कि अपना ही कार्य समझेगा और अपने, अपने लाभ के कार्य में जैसा आनन्द और उत्साह रहता है वैसा आनन्द और उत्साह दूसरे के कार्य में नहीं रहता। उदाहरणार्थ—एक काम आपका नौकर करता है और दूसरा काम आपका पुत्र करता है। इन दोनों में से आपके पुत्र के मन में काम करते समय जैसा उत्साह होगा, वैसा उत्साह नौकर के मन में नहीं होगा, यह स्वाभाविक है। ऐसा होने का कारण भावना की भिन्नता है। नौकर की भावना तो यही होती है कि यह पराया काम है। पुत्र उसे अपना ही काम समझता है। इस प्रकार भावना में अन्तर होने से उत्साह में भी अन्तर पड़ जाता है। उत्साह होने से कार्य अच्छा होता है। उत्साह के अभाव में वैसा नहीं होता।

कहने का आशय यह है कि जैसे दूसरों के कामों को अपने ही काम मानने से उन्हें करने में उत्साह अधिक रहता है, उसी प्रकार वाचना देने के कार्य को अपना ही समझने से आत्मा में उत्साह आता है। इसी उद्देश्य से यह कहा गया है कि वाचना देने का कार्य अपना ही समझना चाहिए।

सद्गुरु जैसी शिक्षा दे सकता है वैसी शिक्षा भाड़े का शिक्षक नहीं दे सकता। सद्गुरु की शिक्षा हृदय में जैसी पैठ जाती है, भाड़े के शिक्षक की वैसी नहीं पैठ सकती। वैज्ञानिकों का कथन है कि छोटी उम्र के बालकों के हृदय में माता पिता की शिक्षा के जैसे संस्कार पड़ते हैं, वैसे संस्कार बड़े होने पर नहीं पड़ सकते। अगर माता पिता सुसंस्कारी हों तो बालकों के अन्तःकरण में शिक्षा के अच्छे संस्कार अंकित कर सकते हैं। इसी प्रकार गुरु अगर सुसंस्कारी हो और वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य मान-

उसका परिणाम भयङ्कर हो, यह स्वाभाविक ही है। अतएव जिस प्रकार ड्राइवर मोटर चलाते समय सावधान रहता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाले गुरु को भी वाचना देते समय पूरी पूरी सावधानी रखनी चाहिए। अगर कुशल ड्राइवर की तरह वाचना देने वाला गुरु कुशल और संस्कारी हो तो शास्त्ररूपी मोटर ठीक चल सकती है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार ड्राइवर मोटर चलाने में सहायक कहा जा सकता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाला भी गणधर के धर्म का अवलम्बन करने वाला है अर्थात् सूत्र की वाचना देने वाला भी तीर्थधर्म का अवलम्बन करता है।

इससे आगे भगवान् कहते हैं—तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाले को महान् निर्जरा होती है। दूसरे महान् तप से भी जो निर्जरा नहीं हो सकती, वह निर्जरा स्वाध्याय अर्थात् वाचनारूप तप से होती है। वाचना देना और स्वाध्याय करना भी एक प्रकार का तप है। महान् निर्जरा करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है। महान् निर्जरा मोक्षप्राप्ति का एक मार्ग है। वाचना देने वाले को, वाचना देते समय सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मैं सूत्र की वाचना देकर महान् निर्जरा का कार्य कर रहा हूं और मोक्षप्राप्ति का कार्य कर रहा हूँ। ऐसा समझकर वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य मानना चाहिए।

वाचना देते समय कितनी सावधानी रखनी चाहिए और क्या समझना चाहिए, यह बात पहले कही जा चुकी है। मगर वाचना लेने वाले को वाचना लेते समय कितनी सावधानी रखनी उचित है और उस समय उसका कर्त्तव्य क्या है, इस सम्बन्ध में कहा गया है :—

पर्यस्तिकामवष्टम्भ, तथा पादप्रसारणम् ।
वर्जयेद्विकथा हास्यमधीयन् गुरुसन्निधौ ॥

वाचना देने वाले गुरु के सन्निकट वाचना लेने वाले शिष्य को कैसी सावधानी रखनी चाहिए, यह बात इस गाथा में बतलाई गई है। इसमें कहा है—वाचना देने वाले गुरु के समक्ष शिष्य को अकड़कर या हाथ पग करके नहीं बैठना चाहिए, पैर फैलाकर नहीं बैठना चाहिए और विकथा तथा हँसी मजाक नहीं करना चाहिए। वाचना लेने वाला शिष्य इन सब अवगुणों का परित्याग कर दे।

अपने यहाँ वाचना लेने देने में अत्यन्त अन्तर आ गया है। जैसे—आजकल कितनेक लोग ऐसा मानते हैं कि सिद्धान्त की वाचना देते समय पास में घी का दीपक होना ही चाहिए। मगर जब सिद्धान्त से भाव प्रकाश लेना है तो यहाँ द्रव्य-प्रकाश की आवश्यकता ही क्या है? इसके अतिरिक्त दीपक जलाना सावद्य है और शास्त्र निरवद्य है। ऐसी स्थिति में निरवद्य शास्त्र की वाचना लेते समय सावद्य दीपक की क्या आवश्यकता है? शास्त्र भावरूप वस्तु है। उसकी भावपूजा ही हो सकती है। उसकी द्रव्यपूजा की आवश्यकता नहीं है।

अब यह भी विचारना चाहिए कि शास्त्र सुनते समय किस प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए? प्राय देखा जाता है कि शास्त्र की वाचना के समय कुछ लोग दोनों हाथ बांध करके ऐसे बैठ रहते हैं, मानो शास्त्र श्रवण करना कोई काम ही नहीं है। ऐसे लोगों के हृदय में शास्त्र का रहस्य कैसे उतर सकता है? एक आदमी सावधान होकर शास्त्र सुनता है और दूसरा बेदरकारी के साथ सुनता

है। इन दोनों के शास्त्र श्रवण में कितना अन्तर है, यह बात बकरी और भैंस के पानी पीने के उदाहरण से समझी जा सकती है। बकरी भी पानी पीती है और भैंस भी पीती है। मगर दोनों के पीने में कितना अन्तर है ? भैंस निर्मल जल को भी गँदला करके पीती है, जब कि बकरी निर्मल जल ही पीती है। वह गँदला जल नहीं पीती। शास्त्र श्रवण करने वाले भी दो प्रकार के हैं। कुछ लोग बकरी के समान निर्मल शास्त्रश्रवण का रसपान करते हैं और कुछ लोग भैंस की भाँति शास्त्रश्रवण को मलीन करके रसपान करते हैं। जो लोग सावधानी के साथ शास्त्र का श्रवण करते हैं, वे महान निर्जरा का कार्य करते हैं। अतएव शास्त्र सुनने में पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

होता है। किन्तु जैनशास्त्र में किसी प्रकार की पोल या गड़बड़ नहीं है। यही बतलाने के लिए कहा गया है कि, जिस सूत्र की वाचना ली गई है, उसके विषय में प्रतिपृच्छना अर्थात् पूछताछ या विचार विनिमय करना चाहिए।

कोई मनुष्य किसी को खोटा सोना दे तो वह लेने वाले से यही कहेगा कि यह सोना किसी को बतलाना नहीं, चुपचाप घर ही ले जाना। हाँ, सच्चा सोना देने वाला ऐसा नहीं कहेगा। वह कहेगा यह सोना सच्चा है या नहीं, इस बात की जाँच चाहे जहाँ कर लेना। इसी प्रकार अगर जैनसिद्धान्त में कहीं पोल या गड़बड़ होती तो विचारविनिमय या पूछताछ करने की बात नहीं कही जाती। मगर जैनसिद्धान्त में किसी प्रकार की पोल या गड़बड़ नहीं है, इसीलिए कहा गया है कि-ली हुई सूत्रवाचना में जो कुछ पूछना हो वह पूछो। इस प्रकार प्रतिपृच्छना करने से अत्यन्त लाभ होता है, यह भी बतलाया गया है। जो सूत्रवाचना ली गई है उसके विषय में पूछताछ करने से क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया गया है-

मूलपाठ

प्रश्न-पडिपुच्छणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर-पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वुच्छिंदइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! प्रतिपृच्छना से अर्थात् शास्त्रचर्चा से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—प्रतिपृच्छना से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का विशोधन होता और इससे जीव कांक्षामोहनीय कर्म को छेद डालता है।

व्याख्यान

गुरु के सन्निकट ली हुई शास्त्रवाचना के सम्बन्ध में गुरु से बारम्बार पूछताछ करना या शास्त्रचर्चा अथवा विचारविनिमय करना प्रतिपृच्छना है। शास्त्र और गुरु का कहना है कि ली हुई शास्त्र वाचना के सम्बन्ध में पूछताछ करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रतिपृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—प्रतिपृच्छना करने से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ की विशुद्धि होती है। जो कोई जिज्ञासु प्रतिपृच्छना करता है वह सूत्र और उसके अर्थ के विषय में थोड़ा जानकार होता ही है। अगर वह एकदम अनजान हो तो सूत्र या उसके अर्थ के सम्बन्ध में क्या पूछा करेगा! अतः अगर कोई सूत्र के विषय में या अर्थ के विषय में कुछ कुछ जानकार हो तभी वह प्रतिपृच्छना कर सकता है। गुरु से बार-बार उस विषय में पूछताछ करने से, वह जो थोड़ा सा जानता है, उसकी विशुद्धि होती है।

अर्थहीन सूत्र और सूत्रहीन अर्थ एक प्रकार से व्यर्थ माना जाता है। सूत्र का महत्व अर्थ से है और अर्थ का महत्व सूत्र से है। सूत्र उच्चारण रूप होता है और अर्थ उस उच्चारण रूप सूत्र में रही हुई विशेष वस्तु को प्रकट करता है अर्थात् सूत्र का महत्व प्रकट करता है।

सूत्र किसे कहते हैं? इस विषय में टीकाकार कहते हैं—जिन थोड़े अक्षरों में बहुत अर्थगांभीर्य समाया हो, उन अर्थगांभीर्य वाले थोड़े अक्षरों को सूत्र कहते हैं। सूत्र, अर्थ की रक्षा करने के लिए ही होता है। प्रत्येक वस्तु पात्र में ही टिक सकती है। अगर साधन या पात्र न हो तो वस्तु का टिकाव नहीं हो सकता। तिजोरी

होता है। किन्तु जैनशास्त्र में किसी प्रकार की पोल या गड़बड़ नहीं है। यही बतलाने के लिए कहा गया है कि, जिस सूत्र की वाचना ली गई है, उसके विषय में प्रतिपृच्छना अर्थात् पूछताछ या विचार विनिमय करना चाहिए।

कोई मनुष्य किसी को खोटा सोना दे तो वह लेने वाले से यही कहेगा कि यह सोना किसी को बतलाना नहीं, चुपचाप घर ही ले जाना। हाँ, सच्चा सोना देने वाला ऐसा नहीं कहेगा। वह कहेगा यह सोना सच्चा है या नहीं, इस बात की जाँच चाहे जहाँ कर लेना। इसी प्रकार अगर जैनसिद्धान्त में कहीं पोल या गड़बड़ होती तो विचारविनिमय या पूछताछ करने की बात नहीं कही होती। मगर जैनसिद्धान्त में किसी प्रकार की पोल या गड़बड़ नहीं है, इसीलिए कहा गया है कि-ली हुई सूत्रवाचना में जो कुछ पूछना हो वह पूछो। इस प्रकार प्रतिपृच्छना करने से अत्यन्त लाभ होता है, यह भी बतलाया गया है। जो सूत्रवाचना ली गई है उसके विषय में पूछताछ करने से क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया गया है-

मूलपाठ

प्रश्न-पडिपुच्छणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर-पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वुच्छिंदइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न-भगवन् ! प्रतिपृच्छना से अर्थात् शास्त्रचर्चा से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर-प्रतिपृच्छना से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का विशोधन होता और इससे जीव कांक्षामोहनीय कर्म को छेद डालता है।

व्याख्यान

गुरु के सन्निकट ली हुई शास्त्रवाचना के सम्बन्ध में गुरु से बारम्बार पूछताछ करना या शास्त्रचर्चा अथवा विचारविनिमय करना प्रतिपृच्छना है। शास्त्र और गुरु का कहना है कि ली हुई शास्त्र वाचना के सम्बन्ध में पूछताछ करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रति पृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—प्रतिपृच्छना करने से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ की विशुद्धि होती है। जो कोई जिज्ञासु प्रतिपृच्छना करता है वह सूत्र और उसके अर्थ के विषय में थोड़ा जानकार होता ही है। अगर वह एकदम अनजान हो तो सूत्र या उसके अर्थ के सम्बन्ध में क्या चर्चा करेगा? अतः अगर कोई सूत्र के विषय में या अर्थ के विषय में कुछ-कुछ जानकार हो तभी वह प्रतिपृच्छना कर सकता है। गुरु से बार बार उस विषय में पूछताछ करने से, वह जो थोड़ा सा जानता है उसकी विशुद्धि होती है।

अर्थहीन सूत्र और सूत्रहीन अर्थ एक प्रकार से व्यर्थ माना जाता है। सूत्र का महत्त्व अर्थ से है और अर्थ का महत्त्व सूत्र से है। सूत्र उच्चारण रूप होता है और अर्थ उस उच्चारण रूप सूत्र में रही हुई विशेष वस्तु को प्रकट करता है अर्थात् सूत्र का महत्व प्रकट करता है।

सूत्र किसे कहते हैं? इस विषय में टीकाकार कहते हैं—जिन थोड़े अक्षरों में बहुत अर्थगांभीर्य समाया हो, उन अर्थगांभीर्य वाले थोड़े अक्षरों को सूत्र कहते हैं। सूत्र, अर्थ की रक्षा करने के लिए ही होता है। प्रत्येक वस्तु पात्र में ही टिक सकती है। अगर साधन या पात्र न हो तो वस्तु का टिकाव नहीं हो सकता। तिजोरी

हो मगर धन न हो तो तिजोरी किस काम की ? इसी प्रकार धन हो पर तिजोरी न हो तो धन की रक्षा किस प्रकार हो सकती है ? ठीक इसी तरह अर्थ के अभाव में सूत्र किस काम का ? और सूत्र न हो तो अर्थ किस काम का ? सूत्र, अर्थ की और अर्थ, सूत्र की रक्षा करता है। सूत्र से ही अर्थ की रक्षा होती है और अर्थ होने के कारण ही सूत्र का महत्व है। इस प्रकार सूत्र और अर्थ दोनों की आवश्यकता है।

शरीर हो मगर आत्मा उसमें न हो तो शरीर किस काम का ? क्या मृत शरीर को भी कोई औषध देता है ? इसी प्रकार शरीररहित आत्मा को भी दवाई दी जा सकती है ? संसारी जीव का आधार शरीर है और शरीर की स्थिति जीव पर टिकी है। जिस प्रकार जीव और शरीर दोनों की आवश्यकता है, उसी प्रकार सूत्र और अर्थ की भी आवश्यकता है। जैसे शरीर का महत्व उसमें रहने वाले जीव के कारण ही है, उसी प्रकार सूत्र का महत्व भी अर्थ होने के ही कारण है। अर्थ के अभाव में सूत्र व्यर्थ है। भगवान् ने कहा है—प्रतिपृच्छना करने से सूत्र और उसके अर्थ की विशुद्धि होती है।

धन की रक्षा के लिए तिजोरी की मजबूती और जीव को आश्रय देने के लिए शरीर की स्वस्थता होना आवश्यक समझा जाता है। इसी तरह शास्त्र के कथनानुसार सूत्र और अर्थ के विषय में प्रतिपृच्छना करके उसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। इसके सिवाय सूत्र और अर्थ हीनाक्षर आदि दोषों से रहित होने चाहिए। वास्तविक सूत्र हीनाक्षर या निरर्थक शब्दों वाले नहीं होते। हीनाक्षर या निरर्थक शब्द होना सूत्र का दोष है। सूत्र का प्रत्येक अक्षर सार्थक और शुद्ध होना चाहिए।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार बारम्बार शरीर की सार सँभाल की जाती है, उसी प्रकार सूत्रवाचना के विषय में भी बार बार पूछताछ करना चाहिए और जिस सूत्र की वाचना ली गई हो उसकी भी सँभाल रखनी चाहिए। सूत्र की भलीभाँति सँभाल रखने से और सूत्र के सम्बन्ध में बार बार पृच्छना करने से सूत्र और अर्थ की विशुद्धि होती है और साथ ही साथ कांक्षामोहनीय कर्म का नाश भी होता है।

यहाँ कांक्षा का अर्थ है-सन्देह। 'यह तत्त्व ऐसा है या नहीं' अथवा 'यह सत्य है या असत्य' इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न होना मोह का प्रताप है। अनभिगृहीत मिथ्यात्व ऐसा होता है कि यह जीव को मालूम नहीं होने देता। मगर ज्ञानी जन कहते हैं कि यह मोह का ही प्रताप है। बार बार पूछताछ करने से कांक्षामोहनीय कर्म नष्ट होता है और 'यह तत्त्व ऐसा ही है' या 'यह बात ऐसी ही है' इस प्रकार की दृढ़ता उत्पन्न होती है।

किसी बात का निश्चय न होने से अत्यन्त हानि होती है और निश्चय हो जाने से अतीव लाभ होता है। मान लीजिए, कुछ मनुष्य जंगल में जा रहे हैं। उन्होंने वहाँ सीप का टुकड़ा देखा। एक ने समझा—यह चाँदी है। तब दूसरे ने कहा—जंगल में चाँदी कहाँ से आई? वह सीप होनी चाहिए। इस प्रकार दोनों के अक्षरों में और अर्थ में भेद पड़ गया। बात संदिग्ध ही बनी रही। वह वास्तव में चाँदी है या सीप, ऐसा निर्णय नहीं हुआ। निर्णय न होने से वे दोनों सन्देह में रहे। अगर दूसरा कोई उनसे पूछेगा कि वहाँ चाँदी है या सीप? तो वे निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कह सकेंगे। उन्होंने निश्चय कर लिया होता तो वे स्वयं सन्देह में न रहते और दूसरों को भी सन्देह में न डालते।

किसी भी वस्तु में सदेह रखने और निश्चय न कर लेन से विचार में ऐसा अन्तर पड़ जाता है। सभी विद्याओं में यह बात लागू पड़ती है। पढ़े और गुन में कितना अन्तर होता है, यह तो आप जानते ही हैं। कहावत प्रसिद्ध है—'पढ़ा है पर गुना नहीं।' सूत्र की वाचना पढ़ने और गुनने के विषय में भी ऐसा ही अन्तर पड़ जाता है। एक आदमी ने सूत्र तो पढा है किन्तु सूत्र के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए सशय का उसने निवारण नहीं किया है और दूसरे मनुष्य ने सूत्रवाचना लेकर अपना सशय निवारण कर लिया है। एक मनुष्य सूत्र वाचकर संदिग्ध रहता है और दूसरा सूत्र को वाच कर सूत्र और अर्थ के विषय में पूछताछ करके सदेह रहित हो जाता है। इस प्रकार दोनो के बीच बहुत अन्तर है।

दूसरे लोग अपने सिद्धान्त की बात कदाचित चुपके से बतलाते हों पर जैनशास्त्र कहता है कि सूत्रसिद्धान्त की बात चुपके चुपके बताना उचित नहीं। अतएव आपको जो कुछ भी बतलाया जाय उसके विषय में बार बार पूछताछ करो और जो कोई शका हो उसका समाधान प्राप्त करो। बहुत बार अनुचित शकाएँ भी उठती हैं लेकिन शका उत्पन्न हो जाने पर भी शका में ही पड़ा रहना ठीक नहीं है। शकाएँ निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए अतएव सूत्र की जो वाचना ली हो उसके सम्बन्ध में बार बार पूछताछ करनी चाहिए। कोई भी बात किसी विशेषज्ञ से ही पूछी जाती है। इसलिए अपने से अधिक जानकार के कथन पर विश्वास रखकर उससे शंका का समाधान प्राप्त करना चाहिए। विशेषज्ञ के कथन पर विश्वास रखा ही जाता है। शरीर के विषय में आप किसी डाक्टर से ही प्रश्न करेंगे। अगर डाक्टर शरीर को रोगी कहेगा तो उसके कथन पर आप विश्वास करेंगे और उसकी सलाह मानेंगे।

इसी प्रकार अपने से अधिक ज्ञानी के कथन पर विश्वास किया ही जाता है। वस्तु के परीक्षक सब लोग नहीं होते, थोड़े ही होते हैं। परन्तु जो लोग वस्तु के परीक्षक नहीं हैं वे परीक्षक के कथन पर विश्वास रखकर ही वस्तु ग्रहण करते हैं। रत्न के परीक्षक सब नहीं होते मगर रत्न का संग्रह कौन नहीं करना चाहता? सभी लोग रत्नों का संग्रह करना चाहते हैं, परन्तु स्वयं परीक्षक न होने के कारण रत्नपरीक्षक के कथन पर ही उन्हें विश्वास रखना पड़ता है।

जब सभी कार्यों में अपने से विशेष जानकार के कथन पर विश्वास किया जाता है तब धर्म की बात पर भी विश्वास क्यों न किया जाय? धर्म की बात में भी अपने से विशेष ज्ञानी के कथन पर विश्वास रखने की आवश्यकता है। मगर धर्म के विषय में प्रायः ऐसा होता है कि शंका होने पर पूछताछ नहीं की जाती और हृदय में शंका को स्थान दिया जाता है। कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि अपने सामने जो भी कुछ आवे, खा जाना चाहिए। इस प्रकार देखे भाले बिना पशु की तरह किसी भी वस्तु को डकार जाना उचित नहीं है। खाने में कभी कोई अयोग्य वस्तु आजाय तो कितनी अधिक हानि होने की संभावना हो सकती है? इसी प्रकार चाहे जो बात बिना सोचे विचारे मान बैठना भी अनुचित है। किसी से पूछे ताछे बिना चाहे जिस साधु मान लेना भी हानिकर है। अगर कोई नया साधु आवे तो उससे पूछना चाहिए कि आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? आपका आचार क्या है? और आपका उद्देश्य क्या है? जैन शास्त्र प्रेरणा करते हैं कि किसी भी बात को बिना विचारे नहीं मान लेना चाहिए बल्कि पूछताछ के पश्चात् उचित प्रतीत होने पर ही मानना चाहिए।

प्रतिपृच्छना का अर्थ सदा शंकाशील ही बना रहना नहीं है, बल्कि जो शंका उत्पन्न हुई हो उसका समाधान करने के लिए

बार बार प्रश्न करना चाहिए और हृदय की शंका का समाधान कर लेना चाहिए। इस तरह विचारविनिमय या शास्त्रचर्चा करके हृदय की शंका का समाधान कर लिया जाय तो कहा जा सकता है कि इसने प्रतिपृच्छना की है। अगर ऐसा न किया जाय तो यही कहा जायगा कि या तो पूछने वाले के पूछने में अथवा बताने वाले के बताने में कोई त्रुटि है या दोनों की समझ में कोई कमी है। मान-लीजिए, एक वैद्य ने किसी रोगी को दवा दी। फिर भी रोग दूर न हुआ तो यही कहा जायगा कि या तो दवा देने वाले में कोई त्रुटि है या दवा लेने वाले ने दवा का भलीभाँति सेवन नहीं किया, अथवा दी हुई दवा ही ठीक नहीं है। इसी प्रकार प्रतिपृच्छना का फल शंका-कांक्षा से निवृत्त होना है। अगर शंका दूर हो गई तो समझना चाहिए कि प्रतिपृच्छना ठीक की गई है।

आत्मा महान् है। कर्मरहित होने से ही आत्मा परमात्मा बनेगा। इसलिए आत्मा को शंकाशील न बनाते हुए, पूछताछ करके निःशंक बनना चाहिए। जिज्ञासा करके शंका का समाधान कर लेना कोई बुराई नहीं है, परन्तु केवल कुतूहलवृत्ति से शंकाएँ करके अपने आपको शंकाशील बनाना अच्छा नहीं है।

जिज्ञासापूर्वक शंका करना एक प्रकार से अच्छा ही है और कुतूहलवृत्ति से संशय करना ठीक नहीं। कहा भी है—

'संशयात्मा विनश्यति।'

अर्थात् संशयात्मा पुरुष 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' की तरह विनाश का पात्र बनता है। शास्त्र में अनेक स्थलों पर गौतम स्वामी के लिए 'जायसंसए' कहा गया है अर्थात् गौतम

स्वामी को संदेह उत्पन्न हुआ, यह बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में संशय होना अच्छा है या बुरा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शंका को शंका के रूप में ही रखना तो दोष है, लेकिन उसका समाधान कर लेना गुण है। जानकारी प्राप्त करने के लिए शंका करना छद्मस्थ के लिए आवश्यक है। शंका किये बिना अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। जिज्ञासा ज्ञानोपार्जन का एक उपाय है। आज विज्ञान का जो आधिपत्य दिखाई देता है, उसका आविष्कार शंका जिज्ञासा से ही हुआ है। अलबत्ता व्यर्थ की शंकाएँ करना और सदा शंकाशील बन रहना ठीक नहीं। इससे लाभ के बदले हानि ही होती है। अतएव हृदय में जो शंका उत्पन्न हो उसे प्रश्न करके या शास्त्रचर्चा करके निवारण कर लेना चाहिए। इस प्रकार प्रतिपृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से हृदय की शंकाओं का समाधान होता है और आत्मा निःशंक बनता है। आत्मा जब निःशंक बनता है तभी उसका कल्याण होता है।

चिम्मनसिंह लोढा के प्रबन्ध से श्री

चिम्मनसिंह लोढा के प्रबन्ध से श्री महावीर प्रेस, ब्यावर में मुद्रित।